वर्ग संख्या…………… प्राप्ति-संख्या…………………

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम …… जैन धर्म

लेखक …… मुनि सुशील कुमार

लेनेवाले का नाम	देनेकी तिथि	लेनेवालेका हस्ताक्षर	लौटानेकी तिथि

श्री पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, वाराणसी

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. 3650
दिनांक 2.10.82
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-5

जैनागमों के आधार पर समन्वयात्मक विवेचन

जैन धर्म

दि० जैन (शोध) संस्थान
क्र० सं० 3850
दि०........
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

लेखक :

मुनि सुशील कुमार

सहायक :

आत्मार्थी मोहन ऋषि जी महाराज
महासती उज्ज्वल कुमारी जी

प्रस्तावना लेखक :

अनंतशयनम् आयंगर
अध्यक्ष लोकसभा, नई दिल्ली

प्रकाशक :
अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस भवन,
१२ लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली

जैनागमों के आधार पर समन्वयात्मक विवेचन

जैन धर्म

जैन (शोध) संस्थान
क्रम सं. 3450
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

लेखक :

मुनि सुशील कुमार

सहायक :

आत्मार्थी मोहन ऋषि जी महाराज
महासती उज्ज्वल कुमारी जी

प्रस्तावना लेखक :

अनंतशयनम् आयंगर
अध्यक्ष लोकसभा, नई दिल्ली

प्रकाशक :
अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस भवन,
१२ लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली

मुद्रक : न्यू इंडिया प्रेस, कनाट सर्कस, नई दिल्ली :

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : पांच रुपये

प्रथमावृत्ति
प्रति २०००

सन् १९५८ वि०सं० २०१५
वीर सं० २४८४, शाके १८८०

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के
आचार्य जैनधर्म दिवाकर,
जैनागम रत्नाकर

श्री आत्माराम जी महाराज

की

सम्मति

बहुत वर्षों से ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो एक अजैन व्यक्ति को जैन सिद्धांतों का परिचय कराए। संतोष का विषय है कि एस० एस० जैन कान्फ्रेंस के कर्मठ और जैन धर्म प्रभावक कार्यकर्त्ताओं ने इस ओर ध्यान दिया है और जैनधर्म नाम की पुस्तक तैयार करवाई है। पुस्तक मैंने आद्योपान्त सुनी है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से सन्तोषप्रद है। वर्षों से समाज को जो कमी खटक रही थी, आशा है उसे पूरा करने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

अन्य सम्मतियाँ

भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति, विश्वविख्यात दार्शनिक सर्वपल्ली डाक्टर राधाकृष्णन्

मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि आज के युग में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में अहिंसा का हमारे लिये महान् मूल्य है। फिर भी बाधा यह है कि हम अहिंसा के सम्बन्ध में बात करते हैं, किन्तु अहिंसा को जीवन में नहीं उतारते। यदि यह ग्रन्थ (जैन धर्म) पाठकों के अन्तःकरण में अहिंसा की प्रतिष्ठा कर सका तो यह महान्तम कार्य होगा।

सितम्बर २६-१९५८
नई दिल्ली

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, एम० पी०

श्री मुनि सुशील कुमार जी ने यह ग्रन्थ लिख कर मेरी सम्मति में राष्ट्र भारती को एक रत्न की भेंट दी है। इससे जैन धर्म का विश्वसनीय स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी। कारण, यह एक अधिकारी विद्वान् के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। बीच-बींच में रमणीय उद्धरणों ने इसे और भी स्मरणीय बना दिया है।

नई दिल्ली
२९-९-५८

मैथिली शरण

प्रस्तावना

मैं 'जैनधर्म', ग्रन्थ का अभिनन्दन करते हुए परमानन्द का अनुभव कर रहा हूँ क्योंकि आदरणीय सुशील कुमार जी जैसे महामुनि इस ग्रन्थ के लेखक हैं और फिर विद्वान् एवं विद्यार्थी तथा साथ ही सामान्य मुमुक्षु सज्जनों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुन्दर हिन्दी रखी गई है।

मुनि सुशीलकुमार जी स्वयं संस्कृत के एक प्रकाण्ड पण्डित हैं, उनके जीवन में जैनधर्म का तत्वज्ञान व जैनधर्म का आचारधर्म दोनों ही साकार हो उठे हैं। जैनधर्म के प्रसार में उन्होंने अपने (जैनसाधु) जीवन का उत्सर्ग किया है। यह ग्रन्थ उन्हीं के द्वारा निर्माण हुआ है। अहिंसा जैनधर्म का सर्वोच्च सिद्धान्त है। अहिंसा के विश्वव्यापी प्रचार के लिए मुनि जी कृतसंकल्प ही नहीं, अपितु उनके जीवन का परम उद्देश्य है। आज जगत् द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तृतीय शीतयुद्ध की आशंका से आक्रान्त है। मानव जाति की रक्षा के लिए अहिंसा की भावना को जगत् और जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठापित करने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखनी चाहिए। अहिंसा के सद्भाव से ही मानवता जीवित रह सकती है, शान्ति साँस ले सकती है और विश्व को विध्वंस और विनाश के महाप्रलय में विलीन कर देने वाले शस्त्रों व अस्त्रों से सुरक्षित रखा जा सकता है। युद्ध एवं शस्त्रों का उत्तर अहिंसा है।

भारत के महान् संतों जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भ० महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन म उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है। क्योंकि जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष्य पद्धति) पर आधारित है, और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। क्योंकि जैनधर्म का भौतिक विज्ञान, और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है। जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती सूत्र के वनस्पति कायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।

प्रत्येक धर्म ने मानव जाति के लिए नये-नये ज्ञानक्षेत्रों को खोला है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म अपने आप में कुछ असाधारण विशेषताओं से युक्त

होता है। जैनधर्म की विशेषता एवं महानता अनेकान्त एवं अहिंसा के सर्वाङ्गीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। सभी धर्म आत्मा की मुक्ति पर विश्वास करते हैं। जन्म एवं पुनर्जन्म के भव-भ्रमण से वियुक्त हो जाना ही अपना परम ध्येय मानते हैं। जैसा कि महावीर स्वामी ने सूत्र कृतांग में बताया है कि :—

“निव्वाण सेट्टा जह सव्व धम्मा”

अर्थात् सभी धर्मों का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म भी निर्वाण प्राप्ति को ही धर्म साधना का अन्तिम साध्य मानता है। और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष मार्ग का विधान किया है। जो तीन सिद्धान्तों का समन्वित स्वरूप है। जैसे कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, व सम्यक् चारित्र तीनों संयुक्त रूप में मोक्ष का मार्ग है।

मुझे यह देखकर हर्ष हुआ है कि श्रद्धेय मुनि सुशीलकुमार जी ने यह ग्रन्थ जैनशास्त्रों के आधार पर तैयार किया है। जिससे जैनधर्म के प्रामाणिक स्वरूप को संक्षिप्त एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से पाठक प्राप्त कर सकें।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी सामग्री दिगम्बर (षट्खण्डागम् समयसार, श्रावकाचार आदि) एवं श्वेताम्बर (अंग, उपांग, मूल छेद, व जैनाचार्यों के ग्रन्थ, उमास्वाती का तत्वार्थसूत्र) आगमों से संचित की गई है। समूचा ग्रन्थ तीन खण्डों में विभाजित है। ज्ञान खण्ड, दर्शन खण्ड, एवं चारित्र खण्ड। इन्हें क्रमशः वर्गीकृत कर १३ अध्यायों में विभक्त कर दिया गया है। ग्रन्थ में जैन इतिहास व जैन संस्कृति का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी कराया गया है। विद्वान् लेखक ने साम्प्रदायिक व विवादास्पद मतभेदों को ग्रन्थ से दूर ही रखा है। लेखक ने 'अतीत की झलक व जैन सभ्यता' में इस तथ्य को अधिक सुन्दरता से स्पष्ट किया है कि जैनधर्म आर्यधर्म है। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर आर्य थे और जैनधर्म का पुराना नाम आर्य धर्म ही था। वैदिक धर्म, जैनधर्म व बुद्ध धर्म, आर्यधर्म के ही अंग हैं। दर्शन एवं सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से ये सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन सब की संस्कृति एवं पृष्ठभूमि एक समान है। क्योंकि इन सब का उद्गम स्थान एक ही है।

मुझे इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ का धार्मिक क्षेत्रों में स्वागत किया जायेगा। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं को महान् जैनधर्म के समझने व उसके प्रति धारणा बनाने में सहायता करेगा। मुझे विश्वास है कि परम आदरणीय मुनि सुशील कुमार जी महाराज का यह जैनधर्म के प्रसार के निमित्त किया गया गुरुतर प्रयास अवश्य सुफल लायेगा।

नई दिल्ली,
अक्तूबर १, १९५८।

अनंतशयनम् आयंगर,
अध्यक्ष लोकसभा, नई दिल्ली

समर्पण-पत्र

श्री वर्द्धमान स्था० जैन श्रमण संघ के
आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज
तथा
उपाचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज
को

सादर समर्पण

विनयावनत
मुनि सुशील कुमार

आत्म-निवेदन

जैनागमों के आधार पर, जैन धर्म के सम्बन्ध में सही जानकारी जगत् के विद्वानों, धर्म जिज्ञासुओं व विद्यार्थियों के सामने रखने की मेरे मन में बहुत देर से आकांक्षा रही है।

अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ने ठीक इसी आशय का एक प्रस्ताव पास कर इस प्रकार की जैन धर्म पर समन्वयात्मक पुस्तक लिखने का अनुरोध मेरे से व आत्मार्थी मोहन ऋषि जी म०एवं महासती उज्ज्वल कुमारी जी से किया था। यह मेरे मन की बात थी। मैंने बम्बई के निकट लोनावाला जैन बन्धुओं की प्रार्थना स्वीकार कर पार्वतीय सुरम्य वातावरण में बहुत शीघ्र ही सारा मसविदा तैयार कर लिया। चार वर्ष के बाद वह पुस्तक आज पाठकों के सामने है।

महासती जी द्वारा प्रेषित पुस्तक का सहकार एवं जैन समाज के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल का सम्पादन इस पुस्तक के संवर्धन में सहयोगी रहा है।

मेरे जैन धर्म पुस्तक लिखने का आशय श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आगमों के आधार पर जैन समाज की धार्मिक एकता को प्रोत्साहन देना है। और साथ ही साथ जैन धर्म के संबंध में फैलाई गयी भ्रान्तियों को दूर कर जैन धर्म की गहराइयों की ओर भी संसार का ध्यान आर्कषित करना है। पुस्तक में १३ अध्याय हैं, जैन इतिहास, जैन तत्वज्ञान, जैन समाज, जैन सभ्यता और जैनाचार पद्धति आदि सभी का परिचय इस पुस्तक में शास्त्रीय आधार पर देने का प्रयत्न किया गया है। भूलें होना स्वाभाविक हैं, जैन धर्म जैसे अगाध तत्वज्ञान एवं विशाल वाङमय से परिपूर्ण धर्म का-परिचय देना मेरे जैसे अनभिज्ञ गीतार्थी के लिए अत्यन्त कठिन है, किन्तु श्रद्धावश यह मेरी प्रेमाञ्जलि है।

अन्त में मैं जैन समाज के कर्मठ सेवी भगवान् महावीर के अनन्य उपासक श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया, स्व० श्री विनय चन्द भाई जौहरी, आनन्दराज सुराणा एवं स्व० श्री जगन्नाथ जी जैनी को भूल नहीं सकता जिनकी उत्साह भरी प्रेरणाएं पुस्तक लेखन में मुझे उल्लसित करती रही हैं।

—मुनि सुशील कुमार

दि. जैन (शोध) संस्थान
क्र. सं.
नरिया, वाराणसी

प्रकाशकीय

अहिंसा आज विश्व-धर्म है। युद्ध एवं विनाश ने अहिंसा के महत्व को जगत् के सामने धौली-धूप की तरह स्पष्ट कर दिया है। व्यक्ति एवं समष्टि की सुरक्षा, शोषणहीन समाज की कल्पना, न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिंसा के बिना कभी साकार नहीं हो सकते। गांधी जी के अवतरण के बाद संसार ने अहिंसा की खोज प्रारंभ की है। किन्तु जैन-धर्म अहिंसा का संदेश और साधना को लिए प्राचीनकाल से ही मानव जाति की सेवा कर रहा है। तथापि खेद है कि जैन धर्म के उदार सिद्धान्तों व मौलिक मान्यताओं तथा दिव्य धारणाओं और अलौकिक गूढ़ विद्याओं का लोकव्यापी प्रचार न किया जा सका। यही कारण है कि स्कूल-कालेज व विश्व-विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में जैन धर्म को लेकर अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएं प्रसारित की गईं हैं।

भारतवर्ष तो अहिंसा प्रधान है ही; परन्तु आज समस्त विश्व अहिंसा और शान्ति की ओर झांक रहा है, जैनधर्म में अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप बताया गया है, अन्यत्र कहीं भी अहिंसा का ऐसा सूक्ष्म और विराट् स्वरूप नहीं मिलेगा।

अतः अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कांफ्रेंस ने जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के परिचय के रूप में एक सर्वमान्य पुस्तक प्रकाशित करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किया था। उसी के अनुसार आज "जैन धर्म" पुस्तक को प्रकाशित कर पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

पुस्तक के लेखक हैं विश्व-धर्म सम्मेलन के प्रेरक प्रसिद्ध संत मुनि सुशील-कुमार जी। सहकार के रूप में आत्मार्थी मोहन ऋषि म० तथा महासती उज्ज्वल-कुमारी जी, उन्हीं के द्वारा लिखित जैन धर्म पुस्तक की इसमें सहायता ली गई है। एतदर्थ हम अपनी तथा अ० भा० श्वे० स्था० जैन कांफ्रेंस की ओर से उनके आभारी हैं।

मुनि सुशील-कुमार जी ने अत्यन्त कार्यव्यस्त होने पर भी जो पुस्तक लेखन व संशोधन सम्बन्धी योग दिया है वह सराहनीय है।

इस पुस्तक में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता न आवे और जैन सिद्धान्तों का सर्वमान्य परिचय मिले, यही दृष्टि रक्खी गई है। जैनों को अपने धर्म का परिचय और ज्ञान हो और अजैनों को भी जैन धर्म की जानकारी मिले यही इस 'जैन धर्म' पुस्तक का ध्येय है।

'जैनधर्म' का अधिक से अधिक प्रचार हो. इस दृष्टि से इस पुस्तक का अनुवाद गुजराती, मराठी, तामिल आदि भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी, जर्मनी, फ्रेन्च आदि विदेशी भाषाओं में भी प्रकाशित करने की हमारी भावना है।

पुस्तक-सम्पादन में प्रसिद्ध पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने महत्त्वपूर्ण योग दे कर हमारी चिरकालीन महान् अभिलाषा पूर्ण की है। एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हम श्री अनंतशयनम् आयंगर, अध्यक्ष लोक सभा के अत्यंत आभारी हैं कि जिन्होंने अत्यधिक कार्य व्यस्तता में भी इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की। प्रस्तावना में जैन धर्म के प्रति उनकी उदाराशयता हमारे लिये स्पृहणीय है।

इनके अतिरिक्त श्री शान्ति लाल वनमाली सेठ, श्री भूपराज जैन एम० ए०, श्री जिनेन्द्र मानव, श्री सोमनाथ जोशी शास्त्री प्रभाकर का प्रूफ संशोधन आदि का समय-समय पर दिया गया सहयोग विस्मृत नहीं किया जा सकता।

यद्यपि अशुद्धियों की ओर से पर्याप्त सतर्क रहा गया, फिर भी कई त्रुटियों का रहना संभव है। यदि पाठक अशुद्धियां सूचित करने का कष्ट करेंगे तो आगामी संस्करण में परिष्कृत की जा सकेंगी।

विनीत

आनन्दराज सुराणा (भूतपूर्व एम.एल.ए.)
जसवंतराज मेहता, एम० पी०,
सौभाग्यमल जैन, (भूतपूर्व वित्त मंत्री)
धीरजलाल केशवलाल तुरखिया,
खीमचन्द मगनलाल वोरा

मंत्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कांफ्रेंस, नई दिल्ली

विजयादशमी (आसोज शु० १०)
वीर सं० २४८४ वि० सं० २०१५
ता० २१-१०-५८

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं०..........
दिनांक..........
नरिया, (का. हि. वि.) वाराणसी

कहाँ क्या ?

१. मंगलाचरण

१. नमस्कार, २. मंगलपाठ।

२. जैनधर्म का स्वरूप ३– ८

३. अतीत की झलक ९–४८

१. जैन धर्म का अनादित्व, २. भगवान् ऋषभदेव, ३. उपनिषदों में जैन धर्म, ४. पुराणों में जैन धर्म, ५. जैन धर्म के तीर्थंकर, ६. भगवान् नेमिनाथ, ७. भगवान् पार्श्वनाथ, ८. भगवान् महावीर, ९. भगवान् महावीर का उदार संघ, १०. महावीर की देन, ११. तत्कालीन धर्म प्रवर्तक, १२. गोशालक, १३. महावीर और बुद्ध, १४. महावीर और बुद्ध में समानता और विभिन्नता, १५. दोनों संस्कृतियों की मूल प्रेरणा एक, १६. सात निन्हव और अन्य विपक्षी, १७. भगवान् द्वारा अचेलत्व की प्रशंसा, १८. वैदिक एवं जैन संस्कृतियाँ, समन्वयात्मक वृत्ति में परिपूर्ण, १९. अन्य धर्मों पर श्रमण-परम्परा की छाप, २०. प्राचीन काल में श्रमण-संस्था का कष्ट-सहन, २१. श्रमण और प्रचार, २२. महावीर और भारत की तत्कालीन अवस्था, २३. महावीर के साधु, सेवक-सेना, २४. लोक-भाषा का प्रश्रय, २५. महावीर की परम्परा की रक्षा, २६. विश्व के नाम महावीर का सन्देश, २७. शिष्य-परम्परा।

४. मुक्ति-मार्ग ४९–६०

१. मुक्ति की परिभाषा, २. सम्यग्दर्शन, ३. सम्यग्दर्शन के आठ अंग––(निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टित्व, उपवृंहण, स्थिरी-करण, वात्सल्य, प्रभावना)।

५. सम्यग् ज्ञान ६१–११२

१. सम्यग् ज्ञान का स्वरूप—स्वरूप, ज्ञान की यथार्थता व अयथार्थता, ज्ञान के भेद, ज्ञान की प्रत्यक्ष परोक्षता, मतिज्ञान के भेद, ज्ञान का क्रम-विकास, श्रुत-ज्ञान, मति-श्रुत का अन्तर, श्रुत का प्रामाण्य, भेद, जैनाचार्यों की साहित्य सेवा, अवधि-ज्ञान, मनः पर्याय-ज्ञान, केवल ज्ञान। २. विश्व का विश्लेषण (द्रव्य व्यवस्था)—द्रव्य व्यवस्था का उद्देश्य, द्रव्य क्या है, विश्व का मूल, पृथक्करण, जीवद्रव्य, अजीव। ३. तत्त्व-चर्चा—जीव, अजीव, पुण्य के भेद; पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष। ४. प्रमाण-मीमांसा—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण, उपमान प्रमाण। ५. नयवाद—नय का स्वरूप, नय की सत्यता, नय के भेद। ६. अनेकान्त, ७. स्याद्वाद, ८. भाषा नीति-निक्षेप विधान।

६. मनोविज्ञान ११३–१३३

१. इंद्रियाँ (पांच), २. इंद्रियों के विषय, ३. मन, ४. लेश्या (कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या), ५. कषाय—१. कषाय का अर्थ—कषाय के भेद : १. क्रोध, २. अभिमान, ३. माया, ४. लोभ।

७. जैन योग १३५–१४४

१. योग। २. जैन धर्म में अष्टांग योग—महाव्रत (यम), योगसंग्रह (नियम), कायक्लेश (आसन), भावप्राणायाम (प्राणायाम) प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार), धारणा (धारणा), ध्यान (ध्यान), समाधि (समाधि)। ३. ध्यान—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, (पिण्डस्थ ध्यान, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत), शुक्ल ध्यान ४. समाधि।

८. आध्यात्मिक उत्क्रान्ति १४७-१५३

१. चौदह गुणस्थान—मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन गुणस्थान, मिश्र गुणस्थान, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति गुणस्थान, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, सूक्ष्म सम्पराय, उपशान्तमोह गुणस्थान क्षीणमोह, सयोगी केवली, अयोगी केवली गुणस्थान।

९. कर्मवाद १५५–१७३

१. जैन दर्शन में कर्म का स्थान---कर्म के भेद (द्रव्यकर्म, भावकर्म) ,कर्मबन्ध के दो मुख्य कारण, कर्मों का वर्गीकरण, कर्मों का स्वभाव (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, अन्तरायकर्म), कर्मक्षय से लाभ, पुनर्जन्म की प्रक्रिया।

१०. चारित्र और नीतिशास्त्र १७५–२१७

१. द्विविध धर्म---अगार धर्म, अनगार धर्म, २. व्रतविचार---व्रत की परिभाषा, व्रत की आवश्यकता, ३. मूलभूतदोष---हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, ४. गृहस्थ धर्म की पूर्व भूमिका---संघ का विभाजन, श्रावक पद का अधिकार, ५. गृहस्थ धर्म, ६. अणुव्रत---अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह-परिमाण अणुव्रत (गुणव्रत और शिक्षाव्रत), ७. श्रावक के तीन प्रकार---पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक, ८. जीवन नीति, ९. जीवन का मूलाधार अहिंसा, १०. मुनि धर्म, ११. पांच महाव्रत, १२. पांच समिति, १३. तीन गुप्ति, १४. अनाचीर्ण, १५. बारह भावनायें, १६. चार भावना, १७, दशविध धर्म, १८. निर्ग्रन्थों के प्रकार, १९. आवश्यक क्रिया, २०. साधना की कठोरता, २१. साधना का आधार, २२. मृत्युकला (संलेखनाव्रत) ।

११. जैनधर्म की परम्परा २१९–२३०

१. जैन सम्प्रदाय, २. भारत के आध्यात्मिक निर्माण में जैनाचार्यों का योग, ३. राजाओं का योगदान, ४. मंत्री और सेनापति, ५. जैन धर्म का प्रसार।

१२. जैनधर्म की विशेषताएँ २३१–२४२

१. जैन धर्म की वैज्ञानिकता, २. सृष्टि-रचना, ३. पृथ्वी का आधार, ४. स्थावर-जीव, ५. लोकोत्तर-ज्ञान, ६. अनेकान्त दृष्टि, ७. अहिंसा, ८. अवतारवाद ९. गुणपूजा, १०. अपरिग्रहवाद।

१३. जैन शिष्टाचार २४३–२५५

१. जैन शिष्टाचार——देव और गुरु के प्रति, वन्दनापाठ, श्रमणों का पारस्परिक शिष्टाचार, श्रावकों का पारस्परिक शिष्टाचार, पति-पत्नी सम्बन्धी, स्वामी सेवक सम्बन्धी
२. जैन पर्व——सम्वत्सरी, दशलक्षण पर्वः, अष्टान्हिका पर्व, आयंबिल-ओलि पर्व, श्रुत पंचमी, महावीर जयन्ती, दीपावली, तथा सलूनो रक्षावंधन।

◆

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं०..........
दिनांक..........
नरिया, (का. हि. वि.)

मंगलाचरण

नमस्कारमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

(भगवती सूत्र, पाठ १।

अर्थात् अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, और लोक के समस्त साधुजनों को नमस्कार हो।

मंगलपाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहिंता सरणं पवज्जामि, सिद्धासरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पवज्जामि।

अर्थात् चार मंगल हैं :—

१. अर्हन्त मंगल हैं, २. सिद्ध मंगल हैं, ३. साधु मंगल हैं, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म मंगल हैं।

लोक में चार उत्तम हैं :—

१. अर्हन्त, लोक में उत्तम हैं, २. सिद्ध, लोक में उत्तम है, ३. साधु, लोक में उत्तम हैं, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म, लोक में उत्तम हैं।

मैं चार शरण ग्रहण करता हूं :—

१. अर्हन्त की शरण ग्रहण करता हूं, २. सिद्ध की शरण ग्रहण करता हूं, ३. साधु की शरण ग्रहण करता हूं, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हूं।

आशीर्वाद

नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेणं तवेण य ।
खन्तीए मुत्तिए, बड्ढमाणो भवाहि य ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २२, गा० २६ ।

"सद् ज्ञान, अटूट निष्ठा, तथा चारित्र बल के सहारे तप, क्षमा, और निर्लोभता के सम्वल से तुम सदा वृद्धि पाते रहना ।"

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम मा पमायए ।।
बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरेव संजए ।
संतिमग्गं च बूहए, समयं गोयम ! मा पमायए ।।

—उत्तराध्ययन, अ० १०—गा० ३१-३६ ।

"हे गौतम ! मेरे निर्वाण के बाद लोग कहेंगे—निश्चय ही अब कोई जिन नहीं देखा जाता ।"

पर 'हे गौतम ! मेरा उपदिष्ट और विविध दृष्टियों से प्रतिपादित मार्ग ही तुम्हारे लिए पथप्रदर्शक रहेगा ।"

ग्राम या नगर जहाँ भी जाओ, वहाँ संयत रहकर शान्ति मार्ग का प्रसार करना, अहिंसा मार्ग का प्रचार करना क्योंकि :—

"शान्ति" मार्ग पर चलने से ही धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार होता है ।"

जैन धर्म का स्वरूप

जैन धर्म का स्वरूप

धर्म को लेकर प्राचीन काल से ही चिन्तकों में मतभेद रहा है। उसी मत-विविधता का फल यह निकला कि आज जगत में धर्म की २२०० सम्प्रदायें अस्तित्व में आ चुकी हैं। और भी अन्य सम्प्रदायों का नए-नए सम्प्रदायों के रूप में परिवर्तन होता चला जा रहा है। मानवजाति के साथ यह खेद-जन्य घटना प्रारम्भ से ही घटित होती रही है, कि धर्म की शक्ति सदा से साम्प्रदायिकों के हाथों का खिलौना रही है और विज्ञान की शक्ति राजनीतिज्ञों के इशारों पर नाचती रही है। धर्म और विज्ञान सत्य का अनुसंधान करते-करते मनुष्य को मिले हैं। धर्मों के अनुसंधान की जन्म-भूमि एशिया है। एशिया के भूखण्डों से ही निकली हुई धर्म की धाराओं ने समूचे जगत को आप्लावित किया है। भारतवर्ष धर्म के अनुसंधान में सबसे आगे है। जैन, वैदिक और बौद्ध-धर्म की धाराएं इसी देश से निकली हैं, यद्यपि जर्थोस्थ, यहूदी, ईसाई, इस्लाम-धर्म की परम्पराएँ ईरान, पैलेस्टाइन और अरब के जन-मानस से प्रस्फुटित हुई हैं और लाओत्से ताओ और कन्फ्यूशियस तथा सिन्तो धर्म की धाराओं ने चीन और जापान को धर्म का पाठ पढ़ाया है।

जगत के इन तमाम धर्म-प्रवर्तकों ने ऐसा कभी नहीं कहा कि हम एक नया धर्म प्रवर्तित कर रहे हैं, अपितु उन सब ने एक ही स्वर में उद्घोषित किया है

कि हम उसी एक अखण्ड सत्य को प्रकट कर रहे हैं जो त्रिकालावाधित रूप से सदा विद्यमान् रहा है।

भगवान् महावीर कहते हैं:—"जो जिन अर्हन्त भगवन्त भूतकाल में हुए, वर्तमानकाल में हैं, भविष्य में होंगे उन सबका एक ही शाश्वत धर्म होगा, एक ही ध्रुव प्ररूपणा होगी और वह यह कि "सव्वे जीवा न हन्तव्वा" किसी जीव की हिंसा मत करो, किसी को मत सताओ और न किसी के पराधीन बनो, एवं न किसी को पराधीन बनाओ।"

भगवान् बुद्ध ने कहा :—"भिक्षुको ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि प्राचीनकाल के अरिहन्तों द्वारा अपनाया गया था, मैं उसी पर चला और चलते हुए मुझे कई तत्वों का रहस्य मिला।"

ऋग्वेद का मन्त्र है :—"एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति" "सत् एक है, विद्वान् अनेकों प्रकार से उसका प्रतिपादन करते हैं।"

जगत के समस्त धर्म, धर्म नहीं हैं अपितु धर्म की व्याख्यायें हैं, पूर्ण सत्य नहीं हैं, सत्य की खोजें हैं। ये सब सत्य के अनुसंधान हैं। समन्वित रूप में अखण्ड सत्य का दिङनिर्देश करते हैं।

जैनधर्म उसे ही अनेकान्त धर्म कहता है, वही पूर्ण है और शाश्वत है क्योंकि अनेकान्त में ऐकान्तिक आग्रह नहीं। आग्रह का यह फल हुआ कि आज धर्म की सात सौ व्याख्यायें हमारे भारतवर्ष में उपलब्ध हैं, किन्तु वे सब एक दूसरे से भिन्न हैं और उनके मानने वाले भी भिन्नता की ओर बहे जा रहे हैं। धर्म के उस परमैक्य और असहमत संगम से हम दूर होते जा रहे हैं। निश्चित हैं, एक-पक्षीयता अधूरेपन को सदा से जन्म देती आई है; अन्यथा धर्मों का मतभेद और विवाद आग्रह पर खड़ा न होकर स्वरूप पर खड़ा होता, सत्य और तत्त्व पर आधारित होता। वस्तुतः स्वरूप से समस्त धर्म एक हैं।

भगवान् महावीर ने अपने युग के ३६३ धर्मों का वर्णन किया है जिनमें कुछ क्रियावादी और कुछ विनयवादी, एवं कुछ अज्ञानवादी सम्प्रदायें थीं। पर उनमें समन्वय नहीं था, यही एक सबसे बड़ी भूल रही है कि धर्म के एक पक्ष पर हम बल दे देते हैं और दूसरे पक्ष से हम पीछे रह जाते हैं। इसी से आग्रह-वृत्ति का उदय होता है। स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान में भगवान् महावीर ने बताया है कि धर्म के दो पक्ष हैं—[1] एक श्रुत और दूसरा चारित्र।

---

[1] श्रुत के तीन प्रकार हैं :-—सम्यक् श्रुत, नयश्रुत, मिथ्याश्रुत।

न्यायावतार ॥

श्रुत का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ सदाचार है। ज्ञान के द्वारा विकास और उद्देश्य की खोज करना, प्राप्ति के मार्ग ढूंढना, और चारित्र का अर्थ है—कि उन सम्यग्मार्गों पर चलकर लक्ष्य-सिद्धि प्राप्त करना। खोज के लिए प्रकाश चाहिए वह ज्ञान देता है, और सदाचार हमें निर्वाण देता है। इसी को श्रुत-धर्म के सहायक रूप में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म आदि के दस भेदों[1] को भी धर्म का रूप दिया गया है। धर्म का वास्तविक उद्देश्य वहिर्मुखता से हमें अन्तर्मुखी बनाना है। हमारा सर्वस्व शरीर नहीं, आत्मा है। शरीर का सुख काम्य सुख है, किन्तु हमारा अपना सुख काम्य सुख नहीं हो सकता क्योंकि वह नाशशील है। इसीलिए जगत के वे तमाम धर्म जो हमें बलि के द्वारा अथवा यज्ञ के द्वारा स्वर्गीय सुखों का आश्वासन बंधाते हैं, वे आध्यात्मिक आनन्द के परमोद्देश्य को प्राप्त करने वाले साधकों के लिए ग्राह्य नहीं हैं। उनको तो आत्मा का आनन्द चाहिए। आनन्द और सुख में यही सबसे वड़ा अन्तर है कि सुख ऐन्द्रिय होता है और आनन्द आध्यात्मिक।

आध्यात्मिक आनन्द नित्य, शाश्वत और 'ध्रुव' है। आनन्द की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा स्वभाव-विपरीतता और विभावों की प्रधानता है। भगवान् महावीर ने फर्माया है—कि "अज्ञान से मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से अव्रत और अव्रत से प्रमाद एवं प्रमाद से कषाय ये सब विभाव हैं, इन विभावों ने ही आत्मा के असीम आनन्द और अनन्त ज्ञान को दबोच लिया है।"

जब तक आत्मा अपने स्वरूप को पा नहीं लेती तब तक उसे जगत की विफलता को अनुभव करना ही पड़ेगा, भव-भ्रमण की व्याधि में ग्रस्त होना ही पड़ेगा।"

श्रमण महावीर कहते हैं—"वत्थुसहावो-धम्मो" वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, अर्थात् आत्मा के नैसर्गिक स्वरूप को पा लेना ही धर्म है, धर्म आत्मा का संगीत है। चैतन्य के ऊर्ध्वगमन की वृत्ति ही धर्म की जननी है। धर्म का वर्णन वाणी से नहीं अपितु अनुभव से ही हो सकता है, आत्मा की विवेक और चैतन्य शक्ति ने ही दूसरे प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न अमरता की ओर प्रेरित किया है। कर्त्तव्य और आदर्श की व्याख्याएँ दी हैं, दुखःनिवृत्ति और निर्वाण प्राप्ति ही हमारे धर्म की लक्ष्यसिद्धि है। आत्मा को कर्माणुओं की धूल ने ढक दिया है। इन कर्मों के बन्धनों को पहिचानो और तोड़ दो। बन्धनों को पहिचानने के लिए ज्ञान की, और बन्धनों को तोड़ने के लिए चारित्र की आवश्यकता

---

[1] स्थानांग स्थान, १०

है। चारित्र-रूप-धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान् ने कहा कि—"अहिंसा संयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। वह उत्कृष्ट और मंगल है।" अहिंसा के विषय में हमें सावधानी से काम लेना पड़ेगा—क्योंकि अहिंसा के दो प्रकार हैं—एक निषेधक और दूसरा विधायक।

अहिंसा का निषेधक रूप आत्मगत समस्त प्रकार के दोषों का शमन करता है और विधायक रूप मिथ्यात्व से समकित, सुव्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग की ओर प्रेरित करता है। मानव को अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से शुद्ध (प्रशस्त शुभ) की ओर ले चलना ही जैनधर्म का उद्देश्य है और अहिंसा उसकी पूर्ति का साधन है। सब जीव जीना चाहते हैं, अहिंसा उनको अमरता देती है। प्रश्न व्याकरण-सूत्र में भगवान् ने कहा है :—"अहिंसा समस्त जगत के लिए पथप्रदर्शक दीपक है, डूबते प्राणी को सहारा देने के लिए द्वीप है, त्राण है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है, यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण है, पक्षियों के लिए आकाशगमन के समान हितकारिणी है और प्यासों को पानी के समान है। भूखों को भोजन के समान है। समुद्र में जहाज के समान है, रोगियों के लिए औषधि समान है; यही नहीं; भगवती अहिंसा, इनसे भी अधिक कल्याणकारिणी है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, वीज, हरित, जलचर, स्थलचर, नभचर, त्रस, स्थावर आदि समस्त प्राणियों के लिए मंगलमय है। (प्रश्न व्याकरण प्रथम संवर द्वार) निःसन्देह अहिंसा ही माता के समान समस्त प्राणियों का संरक्षण करने वाली, पाप और संताप का विनाश करने वाली और जीवनदायिनी है। अहिंसा अमृत है, अमृत का अक्षय कोष है और हिंसा गरल है, गरल का भण्डार है।"

व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में अहिंसा की मात्रा जितनी-जितनी बढ़ती जायेगी, सुख-शान्ति एवं स्थायी कल्याण की मात्रा भी उतनी-उतनी ही बढ़ती जायेगी। इसके विपरीत, ज्यों-ज्यों हिंसा विकराल रूप धारण करेगी, जगत का और व्यक्ति का जीवन अशान्त, संतप्त, और व्याकुल दुःखी होता जाएगा।

प्रश्न होता है— जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किस प्रकार की जा सकती है? इसका उत्तर है —संयम के द्वारा। इसीलिए अहिंसा के पश्चात् धर्म का दूसरा रूप संयम बतलाया गया है।

संयम का अर्थ है इन्द्रियों का और मन का दमन करना अर्थात् उन्हें आत्मवशीभुत करना और हिंसाप्रवृत्ति से बचाना। संयम अहिंसा-रूपी विशाल वृक्ष की

एक शाखा है। अहिंसा साध्य और संयम साधन है। संयम के अनुष्ठान से ही अहिंसा की साधना सम्भव होती है। जिसने अपनी इन्द्रियों को उच्छृंखल छोड़ दिया है मन को वेलगाम कर रखा है और जो प्राणियों के प्रति सहानुभूतिशील नहीं है, वह असंयमी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता।

संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रियों और मन को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करने से रोक कर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना प्राणी-संयम है।

शास्त्रों में सत्तरह प्रकार का जो संयम प्रतिपादित किया गया है, उसका सार इसी में आ जाता है।

संयम के पश्चात धर्म का तृतीय रूप प्रकट किया गया है। इसका कारण यह है कि संयम की साधना के लिए तपस्या अनिवार्य है। तपस्या का अर्थ इच्छा-निरोध है। मनुष्य की इच्छायें अपार, असीम, और अनन्त हैं। उनकी लालसा पूरी करने के लिए आप दौड़ेंगे तो दौड़ते ही चलेंगे। किन्तु वह तृष्णा पूरी नहीं हो सकती और आपकी दौड़धूप समाप्त हो नहीं सकती। इच्छापूर्ति के लिए आपको असंयम के पाप-पथ पर चलना अनिवार्य होगा और वहाँ हिंसा-दानवी आपको अपना लक्ष्य बना लेगी।

काँटों से बचने के लिए आप सम्पूर्ण भूमंडल को चमड़े से मढ़ नहीं सकते। बुद्धिमान् मनुष्य अपने पैरों में ही जूता पहन लेता है। इसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति करना असंभव है, अतएव इच्छाओं पर नियंत्रण कर लेना ही आपके लिए एकमात्र सुखप्रद मार्ग है। यही तप का मार्ग है। तपोनुष्ठान से मनुष्य संयमशील बनता है और संयमशीलता से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है।

जिस व्यक्ति के अन्तरतर में अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी निरन्तर बहती रहती है, उसकी आत्मा इतनी निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है कि देवता भी उसके चरणों में प्रणाम करके अपने को धन्य मानते हैं।

एक जैनाचार्य ने जैनधर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए बतलाया है:—"जहाँ अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा की गई है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओं का विचार करके सम्पूर्ण सत्य की अन्वेषणा की गई है, खण्डित सत्यांशों को अखंड स्वरूप प्रदान किया गया है, जहाँ किसी प्रकार के पक्षपात को अवकाश नहीं है, अर्थात् शुद्ध सत्य का ही अनुसरण किया जाता है और जहाँ किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाना पाप माना जाता है, वही जैनधर्म है।

आचार सम्बन्धी अहिंसा, विचार सम्बन्धी अहिंसा अर्थात् सत्य एवं स्याद्वाद का सम्मिलित स्वरूप ही जैनधर्म है।"

जैन-धर्म विजेताओं का धर्म है क्योंकि वह रागद्वेष के जीतने वाले जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कर्म-मलरूप अरियों का नाश करने के कारण अरिहन्त देवों द्वारा प्रतिपादित होने से इसे निर्ग्रन्थ धर्म भी कहा गया है। श्रीमद्भागवत् में परमहंस धर्म और कैवल्य-श्रुति में इसे यति-धर्म कहा गया है। इस अवसर्पणिक काल में भगवान् ऋषभदेव इसके आदि प्रवर्तक थे और भगवान् महावीर २४ वें तीर्थंकर। युग-युग से जब जीवन अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है तो अरिहन्त वा आर्हद्वाणी हमें अहिंसा, संयम, तप और समन्वय का उद्बोधन देते आए हैं। वह दिवस धन्य होगा जिस दिन हमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र के द्वारा हम अपने ही अन्तर में मूर्छित परमात्मा को जागृत कर सकेंगे और असीम आनन्द एवं अनन्त ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे।

सच्चा यज्ञ

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

उत्तराध्ययन० १२, गा० ४४॥

हे गौतम! तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है। मन, वचन, काया के योग कुड़छी है, शरीर कारिषांग है, कर्म ईंधन है, संयम भोग शान्ति पाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूं। ऋषियों ने ऐसे ही होम को प्रशस्ति कहा है।

Live and Let Live

जीवो और जीने दो

से बेमि, जेय अईया, जेय पडुप्पन्ना, जेय आगमिस्सा–अरिहंता भगवन्तो ते सव्वे, एव माइक्खन्ति एव भासंति एव पण्णविंति, एवं परूवेंति–सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघितव्वा, ण परितावेयव्वा ण किलामेयव्वा, णउद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे णियए–सासए–समिच्च लोयं खेयन्ने हिं पवेइए।

—आचारांग, अ० १, उ० १।

श्रमण महावीर कहते हैं:—"मैं कहता हूँ कि जो अतीत, वर्तमान और भविष्यकाल में अरिहंत भगवान् थे, हैं, और होंगे, वे सब इसी प्रकार का उपदेश, भाषण, प्रवचन और प्रतिपादन करते थे, कर रहे हैं और करेंगे कि:—

सभी जीवों को अपने समान समझ कर किसी भी प्राणी भूत-जीव तथा सत्व को मत मारो, गुलाम मत बनाओ, पीड़ा मत पहुँचाओ और किसी को भी संताप मत दो और न किसी को उद्विग्न करो।"

यही धर्म ध्रुव है, शाश्वत है और नित्य है।

अतीत की झलक

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं०.........
दिनांक.........
नरिया, (कां. हि. वि. वि.) वाराणसी

अतीत की झलक

जैन धर्म न तो किसी धर्मप्रवर्तक पुरुष के नाम से प्रचलित हुआ है और न किसी पुस्तक के नाम से। वह तो जिनों द्वारा उपदिष्ट धर्म है। इस भूतल पर सदा काल से जिन होते आ रहे हैं, अतएव जैनधर्म कब प्रचलित हुआ, यह बतलाना सम्भव नहीं। पाश्चात्य विद्वान् पादरी राइस डेविड के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि जब से यह पृथ्वी है, तभी से जैनधर्म विद्यमान् है।

फिर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थंकरों—जिनों द्वारा उसका उपदेश दिया जाता है और वह नूतन रूप में प्रकाश में आता है, इस दृष्टि से उसे आदि भी कहा जा सकता है।

अनन्त जीव धर्म का अनुसरण करके अपना कल्याण कर चुके हैं, अनन्त जीव अपना उद्धार करेंगे, और अनेक जीव कर रहे हैं। धर्म का मंगल द्वार सदैव खुला रहता है। फिर भी क्रूर काल के प्रभाव से धर्म का पथ कभी-कभी कहीं-कहीं अवरुद्ध हो जाता है। उसे जिन भगवान् पुनः परिष्कृत करते हैं। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

जैनधर्म में काल परम्परा वैदिकधर्म के चार युगों (सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलियुग) की भाँति मूलतः दो भागों में विभाजित की गई है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। उत्सर्पिणीकाल, विकासकाल है। इस काल में जीवों के बल, वीर्य,

पुरुषार्थ, शरीर, उम्र आदि की तथा भौतिक पदार्थों में रस आदि की वृद्धि निरन्तर होती रहती है। अवसर्पिणीकाल ह्रासकाल है। इस अवनतिशीलकाल में उक्त बातों में निरन्तर हानि होती चली जाती है। तात्पर्य यह है कि दुःख से सुख की ओर ले जाने वाला काल उत्सर्पिणीकाल और सुख से दुःख (वृद्धि से ह्रास) की ओर ले जाने वाला काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है।

यह दोनों काल मिलकर कालचक्र कहलाते हैं। यह सृष्टि रूपी शकट के दो चक्र हैं। जैसे गाड़ी के चक्र में आरे बने रहते हैं और वे उस चक्र को विभक्त करते हैं, उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में छः-छः आरे होते हैं। इन आरों का कालमान संख्यातीत वर्षों का होता है।

छः आरों के गुणनिष्पन्न नाम रखे गए हैं :—

(१) सुखमा-सुखमा-अत्यन्त सुखरूप।
(२) सुखमा-सुखरूप।
(३) सुखमा दुखमा-सुख-दुख रूप।
(४) दुखमा सुखमा-दुख-सुख रूप।
(५) दुखमा-दुःख रूप और
(६) दुखमा-दुखमा, अत्यन्त दुख रूप।

यह अवसर्पिणीकाल के आरों का क्रम है। उत्सर्पिणीकाल के छः आरों का क्रम इससे विपरीत है। वह दुखमा सुखमा से प्रारम्भ होकर सुखमा सुखमा पर समाप्त होता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में चौबीस जिन तीर्थंकर होते हैं। वह प्रचलित या लुप्तधर्म को पुनः प्रचलित करते हैं।

इस समय अवसर्पिणीकाल चल रहा है और हम लोग उसके पाँचवें आरे में गुजर रहे हैं।

सुख दुःख नाम के आरे में धर्मतीर्थंकरों का जन्म होता है। इस अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे में आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का अवतरण हुआ। इसी आरे के तीस वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रहते उनका निर्वाण हो गया।

श्रीमद्भागवत और मनुस्मृति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का जन्म मनु की पाँचवी पीढ़ी में हुआ था। गणना करने पर वह काल प्रथम सतयुग का अन्तिम चरण निकलता है। उस सतयुग के बाद आज तक २८ सतयुग बीत चुके हैं। ब्रह्मा जी की आयु का भी बहुत-सा भाग समाप्त हो चुका है।

इस उल्लेख से भगवान् ऋषभदेव के जन्म की प्राचीनता का समर्थन होता है।

भ० ऋषभदेव के पश्चात् चौथे आरे में शेष २३ तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें भगवान महावीर अन्तिम थे।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का कालिक अन्तर जैनशास्त्रों में कोटि-कोटि सागर बतलाया गया है। सागर (प्रकाशवर्ष की तरह) संख्यातीत वर्षों के समूह की संज्ञा है।

इस अवसर्पिणी युग में जैनधर्म के आदि प्रणेता समाजस्रष्टा और नीति-निर्माता भगवान् ऋषभदेव हुए हैं।

भगवान् ऋषभदेव

भूतकाल की बात है। भूतकाल भी इतना पुराना कि वहाँ इतिहास की पहुंच नहीं। उस समय इस भरतक्षेत्र में न धर्म था, न परिवार-प्रथा थी, न समाजव्यवस्था थी, न राज्यशासन था, न नीति और न कला का उद्भव हुआ था। उस समय की प्रजा वृक्षों के फलों पर अवलम्बित थी, जिन्हें कल्पवृक्ष की संज्ञा प्रदान की गई है। जैनशास्त्रों में वह युगलकाल के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि मनुष्य का मनुष्य के साथ अगर कोई सम्पर्क था तो वह नर और नारी का ही था।

भगवान् ऋषभदेव के पिता महाराज नाभि थे जो इस काल के अन्तिम कुलकर थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। युगलिक सभ्यता में ही उनका बाल्यकाल व्यतीत हुआ।

कालचक्र तेजी के साथ घूम रहा था। प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो रहा था। मानवप्रकृति में भोगलिप्सा का विकास हो रहा था। और भौतिक प्रकृति की फलदायिनी शक्ति का ह्रास हो रहा था। इस दोहरे परिवर्तन के कारण पहली बार अशान्ति का उद्भव हुआ। जो वृक्ष उस समय की प्रजा के जीवन-निर्वाह के साधन थे, वे पर्याप्त फल नहीं देते थे और कृषिकर्म आदि से लोग अनभिज्ञ थे। इस परिस्थिति में एक भारी प्राण संकट आ उपस्थित हुआ। उस संकट का सामना करने के लिए युगानुकूल जो नूतन व्यवस्था की गई, उसने भोगभूमि को कर्मभूमि में परिणत कर दिया।

गुण-कर्म के आधार पर भ० ऋषभदेव ने मानवव्यवस्था की और कर्म-

पुरुषार्थ पर खड़ा करके मनुष्य को स्वावलम्बी बना दिया। प्रजा के हित के लिए लेख, गणित, नृत्य, गीत, सौ प्रकार की शिल्प-कला आदि, बहत्तर कलाएँ पुरुषों की और चौंसठ कलाएँ स्त्रियों की निर्माण कीं। (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ऋषभ चरितः) सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि की शिक्षा दी और इस कारण वह लिपि आजतक ब्राह्मी लिपि के नाम से विख्यात है।

कृषि, गो-पालन, भाण्डनिर्माण आदि समस्त कर्म, उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था सब भगवान् ऋषभदेव की ही देन है।

ऋषभदेव जी की सुनन्दा और सुमंगला नामक दो पत्नियाँ थीं। दोनों से दो कन्याओं और सौ पुत्रों का जन्म हुआ। जिनमें दो भरत और बाहुबली विशेष विख्यात हुए।

लोकजीवन की सुव्यवस्था करने के पश्चात् प्रजा का भार अपने पुत्रों को सौंप कर भगवान ऋषभदेव परिग्रह से विमुक्त हो दीक्षित हो गए।

एक हज़ार वर्ष तक निरन्तर कठोर तपश्चरण करने के पश्चात् वे जिन वीतराग एवं पूर्ण ज्ञानी हो गए। तत्पश्चात् उन्होंने समाज-व्यवस्था की तरह धर्म-व्यवस्था करके मानव-जीवन को एक प्रशस्त और उच्चतर ध्येय प्रदान किया। गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का तथा साधुओं के लिए महाव्रतों का उपदेश दिया। भगवान् के धर्मोपदेश की वह विमल स्रोतस्विनी अति दीर्घ मार्ग को पार करती हुई आजतक प्रवाहित हो रही है।

यह उल्लेखनीय है कि भगवान् ऋषभदेव को वैदिकधर्म ग्रंथों में भी परमोच्च पद प्राप्त हुआ है और ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर उनका नाम्मोल्लेख हुआ है और उनकी स्तुति की गई है। एक जगहः लिखा है—"हे ऋषभनाथ सम्राट्! संसार में जगतरक्षक व्रतों का प्रचार करो। तुम्हीं इस अखण्ड पृथ्वीमण्डल के सार हो, त्वचा रूप हो, पृथ्वीतल के भूषण हो, और तुमने ही अपने दिव्यज्ञान द्वारा आकाश को नापा है।" (ऋग्वेद सू० अ० ३)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऋग्वेद के इस मन्त्र में भगवान् को व्रत-धर्म का प्रचारक और अनन्त ज्ञानी स्वीकार किया गया है। अन्यान्य स्थलों पर भी उनकी अत्यन्त भक्तिमय स्तुति की गई है। उनके व्रतधर्म का भी वहाँ उल्लेख मिलता है।

श्रीमद्भागवत में कहा है—"हे परीक्षित! सम्पूर्ण लोक, देव, ब्राह्मण और गौ के परम गुरु भगवान् ऋषभदेव का यह विशुद्ध चारित्र मैंने तुम्हें सुनाया है। यह चारित्र मनुष्यों के समस्त पापों को हरण करने वाला है।"

भागवतकार ने भगवान् ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन किया है और उनके उपदेशों का संग्रह भी किया है। उन्होंने ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म को परमहंस-धर्म और भगवान् को अर्हन्त बतलाया है।

वे कहते हैं—"नाभि राजा ने संसार में धर्म-वृद्धि के लिए मोक्ष-प्राप्ति और अपवर्ग को पथप्रदर्शन के लिए अपत्यकामना की, और अरिहन्त भगवान् को अवतरित करने के लिए यज्ञ किया।"

ब्राह्मणों और ऋषियों ने राजा की कामना जानकर उत्तर दिया—"महाराज! यदि आप अर्हन् चाहते हो तो अवश्य आपकी कामना पूर्ण होगी।" फिर ब्राह्मणों ने परमात्मा से प्रार्थना की, परमात्मा ने ब्राह्मणों की प्रार्थना स्वीकार की और अर्हन् भगवान् को भेजा।

"अर्हन् नाम-रूप प्रकृति के गुणों से निर्लेप, अनासक्त तथा मोह से असंस्पृष्ट होते हैं और मोक्ष तथा अपवर्ग का मार्ग बतलाते हैं।"

"ऋषभदेव आत्मस्वभावी थे। अनर्थपरम्परा (हिंसा आदि पाप) के पूर्ण त्यागी थे। वे केवल अपने ही आनन्द में लीन रहते तथा अपने ही स्वरूप में विचरण करते।"

"ऋषभदेव साक्षात् ईश्वर थे। वे सर्व समता रखते, सर्व प्राणियों से मित्र-भाव रखते और सर्व प्रकार दया करते थे।"

श्रीमद्भागवत ने उच्च स्वर से उद्घोषित किया है कि उस ऋषभदेव भगवान् का ज्येष्ठ और श्रेष्ठी गुणी भरत नामक पुत्र था। वह भारत का आदि सम्राट् था और उसी के नाम से इस राष्ट्र का नाम "भारतवर्ष" पड़ा है।

भरत को सम्पूर्ण राज्य मिल गया, किन्तु ९८ पुत्रों को कुछ भी नहीं मिला। वे उद्विग्न होकर परमयोगी ऋषभदेव के पास गए और उनके सामने राज्यचिन्ता का शोक प्रकट किया। भगवान् ऋषभदेव ने उन ९८ पुत्रों की राज्य के प्रति आसक्ति देखकर बहुत ही गम्भीर, मर्मस्पर्शी और कल्याणकारी उपदेश दिया।

उसका मूल के अनुसार सार यह है :—

१. हे पुत्रो! मानवीय संतानो! संसार में शरीर ही कष्टों का घर है। यह भोगने योग्य नहीं है। इसे माध्यम बनाकर दिव्य तप करो जिससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। तप से अन्तःकरण-शुद्धि और अन्तःकरण-शुद्धि से ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।

२. हे पुत्रो ! सत्पुरुषों के सदाचार से प्रीति करना ही मोक्ष का ध्रुव द्वार है। जो लोक में और संसार व्यवहार में प्रयोजन मात्र के लिए आसक्ति-कर्त्तव्यबुद्धि रखता है, वही समदर्शी प्रशान्त साधु है।

३. जो इन्द्रियों और प्राणों के सुख के लिए तथा वासना-तृप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसे हम अच्छा नहीं मानते। क्योंकि शरीर की ममता भी आत्मा के लिए क्लेशदायक है।

४. साधु जब तक आत्मस्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह कुछ नहीं जानता। वह कोरा अज्ञानी है। जब तक वह कर्मकाण्ड (यज्ञ आदि) में फँसा रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का संयोग छूटता नहीं है। और मन के द्वारा कर्मों का बन्ध भी रुकता नहीं है।

५. जो सद्ज्ञान प्राप्त करके भी सदाचार का पालन नहीं करते वे विद्वान् प्रमादी बन जाते हैं। मनुष्य अज्ञान भाव से ही मैथुन-भाव में प्रवेश करता है और अनेक संतापों को प्राप्त करता है।

६. नर का नारी के प्रति कामभाव ही हृदय की ग्रंथि है। इसी के कारण जीव का घर, खेत, पुत्र-कुटुम्ब और धन से आकर्षण होता है। मोहासक्ति बढ़ती है।

७. जब हृदय-ग्रंथि को बनाए रखने वाले मन का बंधन शिथिल हो जाता है, तब जीव इस संसार से छूटने लगता है और मुक्ति प्राप्त कर परम लोक में पहुंच जाता है।

८. सार-असार का भेद जानने वाला जीव वीतराग पुरुष की भक्ति करता है। भक्ति से अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। तब जीव तृष्णा, सुख-दुःख का त्याग कर तत्व को जानने की इच्छा करता है तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओं की निवृत्ति करता है। तभी आत्मा कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

९. विषयों की अभिलाषा ही अन्धकूप के समान नरक में जीव को पटकने वाली है।

१०. हे पुत्रो ! जो हेयोपादेय की विवेक दृष्टि से शून्य है, और कामनाओं से परिपूर्ण है, वह संसारी कल्याण के मूलपथ को नहीं पहचान सकता।

११. जो पुरुष बुद्धि को मोह में उलझाकर और कुबुद्धि बनकर उन्मार्ग पर चलता है, दयालु विद्वान् उसे कभी भी उन्मार्ग पर नहीं चलने देते।

१२. हे पुत्रो ! जो स्थावर और जंगम जीवों की आत्मा को भी मेरे समान ही समझता है और कर्मावरण के भेद को पहचानता है, वही धर्म प्राप्त करता है। धर्म का मूल तत्व समदर्शन है।

१३. जो साधक यमों (महाव्रतों) को ग्रहण करता है और अध्यात्म-योग विविक्त सेवा द्वारा आत्मस्वरूप स्थिति का ज्ञान करता है, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य द्वारा उसका साक्षात्कार करता है, वह अप्रमादी साधक मुक्ति के निकट पहुँचता है।

१४. जो सर्वत्र विचक्षणतापूर्वक ज्ञान, विज्ञान, योग, धैर्य, उद्यम तथा सत्व से मुक्त होकर विचरण करता है, वही कुशल है और वही मेरा अनुयायी है।

१५. कर्माशय को विध्वंस करने के लिए हृदय-ग्रंथि को नष्ट करो, यही बंध का कारण है। अविद्या से ही बंध होता है। प्रमाद कर्मबंध में सहायक होता है।

१६. इस आत्मा की अपने कल्याण की दृष्टि नष्ट हो गई है और वह स्वार्थ के पीछे पागल हो गया है। पुत्रो ! निष्काम और निस्वार्थ होकर सुखलेश की उपेक्षा करके कर्ममूढ़ता और अनन्त दुःखग्रस्तता को नष्ट करो।

१७. नेत्रों के अभाव में जैसे अन्धा कुपथ पर जा चढ़ता है, इसी प्रकार जीव कर्मान्ध होकर कुमार्ग का अनुसरण कर रहा है। कुबुद्धि होने के कारण ही वह सच्चे धर्म पर श्रद्धा नहीं करता।

१८. हे पुत्रो ! मेरा शरीर मेरा नहीं है, यह तो आत्मा के विभाव का दुष्फल है। मेरा अपना तो आत्मस्वभाव ही है। वही मेरा सच्चा धर्म है। मैंने उस विभाव रूप अधर्म को दूर कर दिया। अतः मुझे लोग श्रेष्ठ आर्य कहते हैं।

१९. अग्निहोत्र में वह सुख नहीं है जो आत्मयज्ञ में है।

२०. मैं उसे ही यज्ञ और धर्म मानता हूँ जो सतोगुण से युक्त, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, तितिक्षा और अनुभव से सम्पन्न होता है। इसी मार्ग से अनन्त आत्मायें परमात्मपद प्राप्त कर गई हैं। यही श्रेष्ठ मार्ग है।

२१. स्थावर और जंगम जीवों पर सदा अभय दृष्टि रखो, यही सच्चा श्रेष्ठ मार्ग है और मोहनाश का कारण है। मुक्तिप्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, यही सर्वोच्च ध्येय है। इसी सिद्धि से अनन्त सुख प्राप्त होता है।

भगवान् का यह उपदेश सुनकर उनके पुत्रों ने संसार त्याग दिया। कर्मकाण्ड त्याग कर उन्होंने परमहंस धर्म (आत्मधर्म) की पद्धति का अनुसरण किया।

भागवत् में भगवान् ऋषभदेव की तपस्या का बहुत ही रोमांचकारी वर्णन किया गया है। उपसर्गों, परीषहों और संकटों को पार करते हुए तथा वनवास के समस्त दुःखों को सहन करते हुए भगवान् अवधूत वेश में विचरने लगे। उनका मन अविखण्डित और प्रशान्त था। वे मानापमान की चिन्ता न करके घूमते रहते थे।

उनके शारीरिक अतिशय का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनकी विष्ठा में से भी सुगंध आती थी, सारा वातावरण सुगंधमय बन जाता था।

एक दिन उनके कर्माशय का अन्त आ गया, समस्त अर्थ परिपूर्ण होने से सिद्ध बन गए, उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

उनकी आत्मा में परमानन्द था, समस्त अर्थों का ज्ञान था, वे निष्कम्प आलोकस्तम्भ थे।

भगवान् ऋषभदेव के भागवतोक्त जीवन की जैनागमों और जैन-पुराणों से पूरी तरह तुलना की जा सकती है। वास्तव में भागवतकार ने श्री ऋषभदेव के जीवन और धर्म को विशुद्ध रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। कहीं भी उन्हें यज्ञ-समर्थक या वेदानुयायी प्रदर्शित नहीं किया गया है।

वैदिक-धर्म के चौबीस अवतारों में भ० ऋषभदेव आठवें अवतार स्वीकार किये गए हैं, मगर उनका जीवन किसी भी अन्य वैदिक अवतार से मेल नहीं खाता है। वह अनूठा है।

उपनिषदों में जैनधर्म

भगवान् ऋषभदेव के समय में ही भारत में दो मुख्य विचार धाराएँ प्रचलित हो गयी थीं, एक धारा वह थी जिसमें कर्म (यज्ञ) की प्रधानता थी और दूसरी वह जिसमें व्रत, नियम, संयम एवं तपश्चरण की मुख्यता थी। ये विचारधाराएँ आज ब्राह्मण विचारधारा और श्रमण विचारधारा के नाम से प्रचलित हैं। भगवान् ऋषभदेव श्रमण विचारधारा अथवा व्रात्यधर्म (व्रतधर्म) के आद्य प्रवर्तक थे। अतएव उपनिषदों में जहाँ कहीं श्रमण विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है, वह भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म ही समझना चाहिए।

जाबाल उपनिषद् में महायोगी दत्तात्रेय ने जिन अहिंसादि दश यमों का प्रतिपादन किया है, वही ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म के मूल व्रत हैं। ऋषभदेव द्वारा प्ररूपित धर्म से दत्तात्रेय के प्रभावित होने का कारण यह है कि व्रात्य धर्म वेदों

से भी अधिक प्राचीन है। वेदों में उसका वर्णन आता है। दत्तात्रेय नवीन हैं क्योंकि उपनिषद् काल में उनका प्रादुर्भाव हुआ है।

दत्तात्रेय याज्ञिक क्रिया काण्ड और बाह्य शौच का खण्डन करते हुए कहते हैं :—"हे सुव्रत, जो मनुष्य ज्ञान-शौच को त्याग कर बाह्य जल आदि से शौच मानने की भ्रमणा में पड़ा है, वह सुवर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढेले का संग्रह करता है।" क्या कोई ब्राह्मणधर्मी ऋषि इस प्रकार उद्गार प्रकट कर सकता है ?

दूसरी जगह वही कहते हैं :—"हे मुने ! अहिंसा आदि साधनों द्वारा अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्मा अविनाशी ब्रह्मपद प्राप्त करता है।" उन्होंने दश यमों का प्रतिपादन किया और उनका समर्थन किया है। तप के विषय में वह कहते हैं :—"हे मुने ! कृच्छ्रचान्द्रायण आदि को वैदिक लोग तप मानते हैं, किन्तु हम उसे तप स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा आत्मा संसार भ्रमण से छूटकर, बन्धन विमुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।"

दत्तात्रेय जी ने अपने को वैदिकों से पृथक् प्रकट किया है। अतएव असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि वे श्रमणशाखा के आचार्य थे, किन्तु वैदिक लोग भी उनका सम्मान करते थे।

यद्यपि श्रमण परम्परा में समय-समय पर अनेक विचारक सन्त सम्मिलित होते रहे हैं और महावीर काल में तो महात्मा बुद्ध जैसे प्रथमकोटि के सन्त भी उसमें सम्मिलित हुए, किन्तु वेदों और उपनिषदों से पूर्व जैनधर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव की परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभावशाली धर्म या धर्मप्रवर्तक का परिचय नहीं मिलता। इस कारण दत्तात्रेय के विचार जैनधर्म से ही प्रभावित स्वीकार किए जा सकते हैं।

दत्तात्रेय यद्यपि ब्राह्मणों और श्रमणों के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में रहे, फिर भी यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का क्रियाकाण्ड उन्हें अभीष्ट नहीं था।

पुराणों में जैनधर्म

उपनिषदों के अनन्तर प्राचीनता के नाते पद्म-पुराण की गणना की जा सकती है। पद्मपुराण में जैनधर्म का विस्तृत वर्णन मिलता है। वैदिक साहित्य की यह एक विशेषता रही है कि उसमें जैनधर्म की स्तुति तो व्रात्यधर्म, परम-

हंसधर्म, या यतिधर्म आदि के नाम से की गई है और जहाँ-जहाँ खण्डन किया गया, वहाँ जैनधर्म या पाखंडधर्म नाम का उल्लेख हुआ है।

पद्मपुराण में जैनधर्म का खंडन किया गया है, फिर भी उस खंडन से जैनधर्म के आन्तरिक स्वरूप का बोध हो सकता है। पद्मपुराण का भूमिखंड तथा राजा वेणु का वर्णन ध्यान देने योग्य है।

ऋषियों ने पूछा :—"सूत जी ! राजा वेणु की उत्पत्ति जब महात्मा से हुई तो उसने वैदिक धर्म का परित्याग क्यों कर दिया ?"

सूत जी बोले—"मैं तुम्हें सारी कहानी सुनाता हूँ। जब वेणु शासन करता था, उस समय उसके दरबार में नंग-धड़ंग, विशालकाय, श्वेतमस्तक वाला अतिशय कान्तिमान् साधु ओघा, कमण्डल लिए जा पहुंचा।" (पुराणों से जैन साधु के वेष के सम्बन्ध में भी पर्याप्त परिचय मिलता है। पद्मपुराण से जैन साधु के दिगम्बरत्व का पता चलता है। शिवपुराण के "तुण्डे वस्त्रस्य धारका:" अर्थात्—"मुख पर वस्त्र धारण करने वाले", इस उल्लेख से स्थानकवासी साधु के वेष का और महाभारत के उत्तुंक के स्पष्टीकरण से श्वेताम्बर साधु के वेष का समर्थन होता है। जान पड़ता है, पुराणकाल में जैन साधुओं के तीनों वेष निश्चित हो चुके थे।)

वेणु ने पूछा—"आप कौन हैं ?"

साधु ने उत्तर दिया—"मैं अनन्त शक्तिमय, ज्ञान-सत्यमय आत्मा हूँ। सत्य और धर्म मेरा कलेवर है। योगी मेरे ही स्वरूप का ध्यान करते हैं। मैं जिन स्वरूप हूँ।"

राजा :—"आपका देव, गुरु और धर्म क्या है ?"

साधु :—"अरिहन्त हमारे देव हैं, निर्ग्रन्थ हमारे गुरु हैं और दया ही हमारा धर्म है। मेरे धर्म में यजन, याजन, वेदाध्ययन जैसा कुछ नहीं है। पितरों के तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि कर्मों का त्याग है। हमारे धर्म में अर्हन् का ध्यान ही उत्तम माना गया है।"

मोह से मुग्ध मनुष्य श्राद्ध आदि करते हैं। मरने के बाद मृतात्मा कुछ खाता नहीं। ब्राह्मणों का खाया मृतात्मा को मिलता नहीं है।

दया का दान करना ही सर्वश्रेष्ठ है। राजन् ! इन मिथ्या कर्मों को त्याग कर जीवों की रक्षा कर, दयापरायण होकर प्रतिदिन जीवों की रक्षा कर। ऐसी

दया करने वाला मनुष्य चाहे चाण्डाल हो या शूद्र, वही हमारे धर्म में ब्राह्मण कहा गया है।

जिन भगवान् का बताया हुआ व्रत ही हमारे कल्याण का सच्चा मार्ग है। सब पर दया करो, शांतचित्त होकर दया करो।

राजा ने पूछा :—"हे ऋषे ! ये ब्राह्मण और आचार्य गंगा आदि नदियों को पुण्यतीर्थ बतलाते हैं। यह कहां तक सत्य है ?"

साधु :—"नरेश, आकाश से बादल एक ही समय जो पानी बरसाते हैं, वही पृथ्वी, पर्वत आदि सभी स्थानों में गिरता है। वही बह कर नदियों में इकट्ठा हो जाता है। नदियां तो जल बहाने वाली हैं। उनमें तीर्थ कैसा ? सरोवर और समुद्र सभी जल के आश्रय हैं। पृथ्वी को धारण करने वाले पर्वत भी केवल पाषाणराशि हैं। इनमें तीर्थ नाम की वस्तु नहीं है।"

"यदि समुद्र और नदियों में स्नान करने से सिद्धि मिलती तो मछलियों को तो सबसे पहले सिद्ध हो जाना चाहिए।"

"हे राजेन्द्र ! एक मात्र जिन ही सर्वोत्तम धर्म हैं और तीर्थ हैं। संसार में जिन ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका ध्यान करो।"

राजा वेणु के मन में अर्हंत्–धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न हुई और उसने परमहंस धर्म (जैनधर्म) स्वीकार कर लिया। इस घटना से ऋषियों को बड़ी चिन्ता हुई।

यह वृत्तान्त खूब विस्तृत है। इसके उल्लेख करने का आशय यह है कि पुराणकाल में जैनधर्म का प्रभाव इतना बढ़ा हुआ था कि राजा वेणु जैसे भारत-सम्राट् भी उनके अनुयायी बन गये थे।

वेणु की यह कहानी स्पष्ट घोषणा कर रही है कि बाह्याचार जैनधर्म का स्वरूप नहीं, उसका विश्वास जीवनशोधन पर है।

अब जरा स्कन्दपुराण पर दृष्टि डालिए। वहां आवन्त्य रेखा खण्ड में पाखण्डीजनों के त्याग के प्रकरण में व्रतियों की निन्दा की गई है। वैदिक व्रत और नर्मदा के स्नान से पापविमुक्ति एवं मोक्षप्राप्ति बतलाई गई है।

दूसरे पुराणों तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के आत्मविषयक गार्ग्य और अजातशत्रु के प्रश्नोत्तर भी जैनधर्म की ओर संकेत कर रहे हैं।

साधना के क्षेत्र में आर्हत् धर्म की साधना सर्वाधिक कठोरतम रही है।

जैनधर्म भारत की उस साधना का प्रतिनिधित्व करता आया है जो सार्वभौम है, जो समाज और व्यक्ति में अमृतत्व की प्राप्ति का मूल स्रोत रही है। जैन साधना वस्तुशोधन की प्रक्रिया पर नहीं, जीवन-शोधन पर विश्वास करती है।

अथर्ववेद में व्रात्यों – व्रतनिष्ठ मुनियों की साधना के जो उल्लेख पाये जाते हैं और भागवत में भगवान् ऋषभदेव की कठोरतम साधना का जो चित्र उपस्थित किया गया है, उससे भलीभांति प्रकट हो जाता है कि जैनधर्म की साधना शरीर की ममता पर कुठाराघात करके अहंकार और ममकार का विनाश करती हुई अग्रसर होती है। वह स्वर्ग के स्वप्न नहीं देख सकती, मुक्ति का पथ प्रशस्त करती है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण खण्ड २ अ० १३१ में "हंसगीता" के नाम से यतिधर्म निरूपण का अलग ही अध्याय रखा गया है, जिसमें जैन साधु के नियमों को ही यति धर्म का आचार बतलाया गया है।

एक बार भोजन, मौनवृत्ति, इन्द्रियनिरोध, राग-द्वेष रहितता आदि जैन साधु के गुण ही विष्णुपुराण में यतियों के गुण बतलाये गये हैं। जैनागम में प्रसिद्ध दश धर्मों को ही यति धर्म कहा गया है।

वि० पु० श्लोक ५९।

योगवासिष्ठ में रामचन्द्र जी अपनी कामना इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं।

"नाहं रामो न मे वाच्छा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥"

"मैं राम नहीं हूं, मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है, मेरी अभिलाषा तो यह है कि मैं जिनेश्वर देव की तरह अपनी आत्मा में शान्ति लाभ कर सकूं।"

शिवपुराण में भगवान् ऋषभदेव को विश्व का कल्याणकर्त्ता बताया गया है।

इन सब उल्लेखों का अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म केवल श्रमण परम्परा का मूलाधार है, परन्तु बाह्मण परम्परा को भी उसकी महत्वपूर्ण देन है। भगवान् ऋषभदेव इस युग के प्रथम धर्म प्रवंतक हैं। वेदों, वैदिक पुराणों और जैन साहित्य में उनका उपदेश विकल या अविकल रूप से उपलब्ध होता है। वह भारत की ही नहीं, विश्व की अनुपम विभूति थे। स्वनामधन्य भगवान ऋषभदेव विश्व के प्रथम महर्षि थे।

जैनधर्म के तीर्थंकर

जिन चौवीस तीर्थंकरों का सामान्य उल्लेख पहले दिया गया है, उनकी नामावली इस प्रकार है:—

संख्या	तीर्थंकर नाम	जन्मस्थान
१.	श्री ऋषभदेव जी	अयोध्या
२.	श्री अजीतनाथ जी	अयोध्या
३.	श्री संभवनाथ जी	श्रावस्ती
४.	श्री अभिन्दननाथ जी	अयोध्या
५.	श्री सुमतिनाथ जी	अयोध्या
६.	श्री प्रद्मप्रभु जी	कौशाम्बी
७.	श्री सुपार्श्वनाथ जी	काशी ✓
८.	श्री चन्द्रप्रभु जी	चन्द्रपुरी
९.	श्री पुष्पदंत (सुविधिनाथ) जी	काकान्दी
१०.	श्री शीतलनाथ जी	भद्दलपुर
११.	श्री श्रेयांसनाथ जी	सिंहपुरी—सारनाथ ✓
१२.	श्री वासुपूज्य जी	चम्पा पुरी
१३.	श्री विमलनाथ जी	कम्पिला
१४.	श्री अनन्तनाथ जी	अयोध्या
१५.	श्री धर्मनाथ जी	रत्नपुरी
१६.	श्री शान्तिनाथ जी	हस्तिनापुर
१७.	श्री कुन्थुनाथ जी	हस्तिनापुर
१८.	श्री अरहनाथ जी	हस्तिनापुर
१९.	श्री मल्लिनाथ जी	मिथिलापुरी
२०.	श्री मुनि सुव्रतनाथ जी	राजगृह
२१.	श्री नेमिनाथ जी	मिथिला
२२.	श्री अरिष्टनेमिनाथ जी	शौरीपुर
२३.	श्री पार्श्वनाथ जी	काशी ✓
२४.	श्री महावीर स्वामी जी	कुंडग्राम—वैशाली

इनमें से धर्मनाथ, अरहनाथ और कुन्थुनाथ का जन्म कुरुवंश में, मुनि सुव्रतनाथ का हरिवंश और शेष तीर्थंकरों का जन्म इक्ष्वांकुवंश में हुआ था।

सभी तीर्थंकरों का जीवन कठोर तपोमय था। सभी तीर्थंकरों ने प्रव्रज्या अंगीकार की, तीव्रतपश्चर्या की और पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। कृत कृत्य होकर भी जगत् के समस्त जीवों की करुणा–भावना से प्रेरित होकर मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया, व्रतों की व्यवस्था की और तत्व का यथार्थ स्वरूप बतलाया। अन्त में निर्वाण प्राप्त कर परमात्मा बने और सिद्ध बुद्ध तथा अनन्त आत्मिक गुणों से समृद्ध हुए। इनमें से बहुप्रचलित तीन तीर्थंकरों का जीवन परिचय नीचे दिया जाता है।

भगवान् नेमिनाथ

यह यदुवंश के महान् प्रतापी महाराज समुद्रविजय के पुत्र और महारानी शिवा के आत्मज और श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। वैदिक सन्ध्योपासना के शान्तिमंत्र में "अरिष्टनेमि शान्तिर्भवतु," इन शब्दों से उनकी स्तुति की जाती है। वेदों में भी अनेक स्थलों पर उनका उल्लेख हुआ है।

राजा उग्रसेन की कन्या राजमती के साथ इनका विवाह होना निश्चित हुआ। बारात रवाना हुई और श्वसुरगृह पहुंच ही रही थी कि मार्ग में अरिष्टनेमि ने पशुओं की करुण चीत्कार सुनी। सारथी से पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि बारातियों के मांसभक्षण के लिए यह सब पशु एकत्र किए गए हैं। यह जानकर उन्हें असह्य मनोव्यथा हुई। उनका अन्तःकरण करुणा से प्लावित हो उठा, उसी समय उन्होंने सारथी को आज्ञा देकर सब पशुओं को बन्धन-मुक्त करा दिया।

इस घटना का उनके जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ा। वे विवाह से मुख मोड़ कर विरक्त हो गये और तपस्या करने चले गये।

भगवान् अरिष्टनेमि का पशुरक्षण आन्दोलन जूनागढ़ के निकट से आरम्भ हुआ और समूचे सौराष्ट्र और भारत में फैल गया। इस त्यागमूलक आन्दोलन ने लोगों के नेत्र खोल दिये। आज भी सौराष्ट्र में शेष संसार की अपेक्षा बहुत कम हिंसा होती है, यह भगवान् अरिष्टनेमि के इस पशुसंरक्षण आन्दोलन का ही फल है।

गिरनार गिरि पर आरूढ़ होकर अरिष्टनेमि ने स्वतः दीक्षा धारण की। तपस्या करके कर्मों का क्षय किया और पूर्ण ज्ञानी बने। अन्त में मुक्तिलाभ कर सिद्ध हो गए।

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म २८०० वर्ष पहले हुआ था। वे राजपुत्र थे। महाराजा अश्वसेन इनके पिता थे। माता का नाम वामा देवी था। भारत के विख्यात. विद्याधाम काशी में इनका जन्म हुआ था।

गंगातट पर एक तापस अग्निताप सहन कर रहा था। पार्श्वनाथ ने उसे बतलाया कि तेरी धूनी के लक्कड़ में नाग-नागिन का एक जोड़ा जल रहा है। राजकुमार की यह बात सुनकर तपस्वी क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गया। तापस ने अग्नि में से वह लक्कड़ निकाल कर फाड़ा तो राजकुमार की बात सच निकली। दर्शकगण तापस के अज्ञान का विचार कर म्लानमुख हो गये। तापस लज्जित था, क्रुद्ध था, परन्तु विवश था।

मृत्यु के पश्चात् तापस देवयोनि में जन्मा। उधर पार्श्वनाथ गृहत्याग कर साधु बन चुके थे। उस देव ने अपने अपमान का प्रतिशोध करने के लिए भगवान् को बहुत कष्ट पहुंचाये। उसने एक बार उन्हें जलवृष्टि में डुबा देने की कुचेष्टा की, किन्तु उस नाग-नागिन के युगल ने, जो मर कर धरणेन्द्र देव और पद्मावती के रूप में जन्मा था, आकर भगवान् का उपसर्ग निवारण किया।

भगवान् पार्श्वनाथ भारत के प्रसिद्धतम नागवंश में उत्पन्न हुए थे। आज के इतिहासज्ञ विद्वानों ने आपकी ऐतिहासिकता इस प्रकार स्वीकार की है :—

"श्री पार्श्वनाथ भगवान् का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत भर में प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है।"

"श्री पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह-इन तीनों नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

इन उद्धरणों से विदित होगा कि अहिंसा के सर्वप्रथम (इतिहास सिद्ध) व्यावहारिक प्रयोग-द्रष्टा पार्श्वनाथ ही थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने लगभग ७० वर्ष तक भारतव्यापी अहिंसा का प्रचार किया और १०० वर्ष की उम्र में सम्मेद-शिखर पर जाकर निर्वाण प्राप्त किया। भारत में अहिंसा को विराट् बनाने का श्रेय भ० पार्श्वनाथ को ही है, जिन्होंने जंगली जातियों को अहिंसक बनाया। कृतज्ञता प्रकाशन के लिए और उनके पावन उपदेशों की चिरस्मृति के लिए भारत राष्ट्र ने पर्वतों तक के 'पारस' नाम रख दिये। सम्मेद शिखर का दूसरा नाम "पारसनाथ-हिल" है।

प्रसेनजित पर हुए बर्बर आक्रमण के अवसर पर काशी-कौशल राष्ट्रों की ओर से आप अकेले ही उसकी सहायता करने गये। उन्होंने एक ही अमृत-वचन से एक दूसरे के खून के प्यासे राजाओं को शान्त करके मित्र बना दिया था। यह उनके विलक्षण वाक्-कौशल का और आन्तरिक शुचिता का ज्वलंत प्रमाण था।

भगवान् महावीर

उस युग के महाराजा तथा गणराज्य के अधिपति चेटक की बहिन थी त्रिशला देवी। उनका विवाह ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के साथ हुआ। जैन-शास्त्रों में महाराज सिद्धार्थ का उल्लेख "सिद्धत्थे खत्तिए" और "सिद्धत्थे राया," के नाम से हुआ है।

यही देवी त्रिशला भगवान् महावीर की माता थीं, और सिद्धार्थ भगवान् के पिता थे। ईसा से ५६६ वर्ष, पूर्व ऋतुराज वसन्त जब अपने नव यौवन की अंगड़ाई ले रहा था, नैसर्गिक सुषमा अपना सिंगार कर रही थी, प्रकृति प्रसन्न थी और जन-जन के मानस में अपूर्व उल्लास और आह्लाद उत्पन्न कर रही थी, तब चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान् महावीर ने अपने जन्म से इस पृथ्वी को पावन किया। उनका नाम वर्द्धमान रक्खा गया।

उनके बाल्यकाल की अनेक घटनाएं जैन ग्रंथों में उल्लिखित हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान "होनहार विरवान के, होत चीकने पात" की उक्ति के अनुसार बचपन से ही अतीव बुद्धिमान्, विशिष्ट ज्ञानवान्, धीर, वीर और साहसी थे। उनके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे, अतएव अहिंसा, दया, करुणा और संयमशीलता के वातावरण में उनका लालन-पालन हुआ।

वर्द्धमान में एक बड़ी जन्मजात विशेषता थी अलिप्तता – अनासक्ति की। राजप्रासाद में रहते हुए भी और उत्कृष्ट भोग सामग्री की प्रचुरता होने पर भी वे समस्त भोग पदार्थों में अनासक्त रहते थे। उनकी अन्तरात्मा में एक असाधारण प्रकाश था, एक दिव्य ज्योति थी, जो उन्हें एक निराला ही पथ प्रदर्शित करती रहती थी।

वर्द्धमान स्वभाव से ही अत्यन्त गम्भीर और सात्विक थे। उनकी देह अनुपम स्वर्ण समगौर वर्ण और अतिशय प्राणवान थी। उनका आनन ओजस्वी, ललाट और वक्षस्थल विशाल था। सात हाथ ऊंचा उनका सम्पूर्ण शरीर असाधारण सौन्दर्य की पुरुषाकार प्रतिमा के समान था। फिर भी उनका मानस वैराग्य – रंग से रंगा हुआ था। वे कभी-कभी अतिशय गंभीर प्रतीत होते, मानो संसार के दुःख–दावानल से पार होने की चिन्ता में हो। इठलाता हुआ यौवन भी उन्हें भोगों में नहीं फंसा सका। उनकी वृत्तियां वस्तुतः आत्माभिमुखी थीं।

दिगम्बर–परम्परा के अनुसार वह अविवाहित ही रहे और श्वेताम्बर–परम्परा के अनुसार विवाहित होकर भी वे कभी भोगों में आसक्त नहीं हुए।

वर्द्धमान के माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, उस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। विरक्ति के जन्मजात संस्कार संभवतः इस घटना से उभर आये और उन्होंने अपने ज्येष्ठ वन्धु नन्दिवर्धन के समक्ष दीक्षित होने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया। नन्दिवर्धन माता–पिता के वियोग से व्याकुल थे ही, वर्द्धमान के इस प्रस्ताव से उनकी मनोव्यथा की सीमा न रही। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा–'बन्धु, जले पर नमक मत छिड़को। माता पिता के विछोह की कथा ही दुःसह लग रही है, तिस पर भी तुम मुझे निराधार छोड़ देने की बात कहते हो। मैं इतनी बड़ी व्यथा न सह सकूँगा।'

भगवान् वर्द्धमान अतिशय नम्र, सौम्य, विनीत और दयालु थे। किसी को पीड़ा उपजाना तो दूर रहा, वे किसी को म्लानमुख भी नहीं देख सकते थे। नन्दिवर्धन के व्यथा-निवेदन से उन्होंने संकल्प में परिवर्तत तो नहीं किया मगर दो वर्ष के लिए उसे स्थगित कर दिया। इन दो वर्षों में वे गृहस्थ योगी की भांति रहते रहे।

आखिर तीस वर्ष की भरी जवानी में उन्होंने गृह त्याग किया। वह बुद्ध की भांति, पारिवारिक जनों को सोता छोड़कर, रात्रि में, चुपके चुपके से नहीं निकले, वरन् कुटुम्बियों से अनुमति लेकर त्यागी बने।

यहीं से वर्द्धमान स्वामी का साधक–जीवन आरम्भ होता है। बारह वर्ष, पांचमास और पन्द्रह दिन तक कठोरतर साधना करने के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

इस लम्बे साधना–काल का विस्तृत वर्णन जैनागमों में उपलब्ध है। उससे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान की साधना अपूर्व और अद्भुत, थी। जब हम उनके तीव्रतम तपश्चरण का वृत्तांत पढ़ते हैं तो विस्मय से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस विशाल भूतल पर असंख्य महापुरुष, अवतार कहे जाने वाले विशिष्ट पुरुष तथा तीर्थंकर हुए हैं, मगर इतनी कठिन तपस्या करने वाला पुरुष दूसरा नहीं हुआ। भयानक से भयानक यातनाओं में भी उन्होंने अपरिमित धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता का आदर्श उपस्थित किया। गोपाल, शूलपाणि यक्ष, संगम देव, चण्डकौशिक सर्प, गौशालक और लाढ़ देश के अनार्य प्रजाजनों द्वारा पहुंचाई गई पीड़ाएं भगवान् की अनन्त क्षमता और सहिष्णुता का ज्वलन्त निर्देशन हैं। रोमांचकारिणी उत्पीड़ाओं के समय भगवान् हिमालय की भांति अडिग, अडोल और अकम्प रहे। तपश्चरण में असाधारण वीर्य प्रकट करने के कारण ही वे "महावीर" के सार्थक नाम से विख्यात हुए।

आगत कष्टों, परीषहों और पीड़ाओं को दृढ़तापूर्वक सहर्ष सहन करने वाला पुरुष वीर कहलाता है, परन्तु भगवान् तो आत्मशुद्धि के लिए कभी-कभी कष्टों को निमंत्रण देकर बुलाते, उनके साथ संघर्ष करते और विजयी बनते थे। इस कारण वह अतिवीर और महावीर कहलाये। विशेष वर्णन के लिए देखिए आचाराङ्ग, (प्र० द्वि० श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आवश्यकचूर्णि आदि)

कितनी अद्भुत बात है कि साढ़े बारह वर्ष के तपस्याकाल में भगवान् ने छह महीनों जितना लम्बा काल निराहार और निर्जल रहकर बिता दिया। इस १२॥ वर्ष के दीर्घकाल में उन्होंने कुल मिलाकर ३४९ दिन भोजन किया और शेष दिनों में उपवास किया। और यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं कि उन्होंने एक अपवाद के सिवाय कभी निद्रा भी नहीं ली। जब नींद आने लगती तो वे थोड़ी देर चंक्रमण करके निद्रा भगा देते और सदैव जागृत रहने का ही प्रयत्न करते रहते थे। इससे ज्ञात होता है कि अभ्यास के द्वारा निद्रा पर मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है।

सर्वोत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप भगवान् महावीर को सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक सम्पत्ति उपलब्ध हुई। इससे इन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद प्राप्त हुआ।

तत्पश्चात् भगवान् ने तत्व के स्वरूप तथा मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। तीस वर्ष तक स्थान-स्थान पर परिभ्रमण करके अन्त में पावापुरी पधारे। मोक्ष की घड़ी निकट थी, किन्तु वे विश्व को अपनी पुण्यमयी, कल्याणकारिणी और परमपावनी वाग्धारा से आप्लावित कर रहे थे। आखिर कार्तिक कृष्णा अमावस्या को रात्रि में वे समस्त कर्मों से विनिर्मुक्त, अशरीरी सिद्ध हो गए।

भगवान् महावीर विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी। उन्होंने सर्वतोमुखी क्रांति का मंत्र फूंका था। आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, यहां तक कि भाषा के क्षेत्र में भी उनकी देन बहुमूल्य है। उन्होंने तत्कालीन तापसों को तपस्या के बाह्य रूप के बदले बाह्याभ्यन्तर रूप प्रदान किया। तप के स्वरूप को व्यापकता प्रदान की। पारस्परिक खण्डन-मण्डन में निरत दार्शनिकों को अनेकान्तवाद का महामंत्र दिया। सद्गुणों की अवगणना करने वाले जन्मगत जातिवाद पर कठोर प्रहार कर गुण-कर्म के आधार पर जाति-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। इन्होंने नारियों की प्रतिष्ठा को भूले हुए भारत को साध्वी-संघ बनाकर प्रतिष्ठा प्रदान की। यज्ञ के नाम पर पशुओं से खिलवाड़ करने वाले स्वर्गकामियों को स्वर्ग का सच्चा मार्ग बतलाया। नदी-समुद्रों में स्नान करने से, आग में जल मरने से या पाषाणों की राशि इकट्ठी कर देने से धर्म समझने की लोकमूढ़ता का ह्रास किया। लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाकर पण्डितों के भाषाभिमान को समाप्त किया। संक्षेप में यह कि महावीर स्वामी ने समाज के समग्र मापदंड बदल दिये और सम्पूर्ण जीवन दृष्टि में एक दिव्य और भव्य नूतनता उत्पन्न कर दी।

भगवान् महावीर का उदार संघ

यों तो भगवान् महावीर के चौदह हज़ार संत शिष्य थे, किन्तु ग्यारह उनमें प्रधान थे, जो जैन परम्परा में गणधर नाम से विख्यात हैं। यह ग्यारहों शिष्य पहले वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और वेद-वेदांग के पारगामी प्रखर पण्डित थे। इनमें भी गौतम इन्द्रभूति के पाण्डित्य की सबके ऊपर धाक थी। वह भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने गये। पर भगवान् से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये। उनके पश्चात् शेष दसों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। सबने आर्हती दीक्षा अंगीकार की और वे वीरसंघ के स्तंभ बने।

भगवान् के अनुपम त्यागी, तप और संयममय उपदेश सुनकर वीरांगक,

वीरयक्ष, संजय, एणेयक, सेय, शिव, उदयन तथा शंख, इन आठ समकालीन राजाओं ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

अभय कुमार, मेघकुमार आदि अनेक राजकुमारों ने प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। स्कन्धक प्रभृति अनेक तापस तपस्या का रहस्य जानकर भगवान् की शरण में आये, राजकुमारी चन्दनबाला, देवानन्दा आदि छत्तीस हज़ार नारियां साध्वी-संघ में प्रविष्ट हुईं।

भगवान् के गृहस्थ अनुयायियों में मगधाधिपति श्रेणिक, कूणिक (अजातशत्रु), वैशालीपति चेटक (महावीर के मामा), अवंतीपति चण्डप्रद्योत आदि अनेक भूपति थे। आनन्द, काम देव आदि लाखों श्रावक थे, जिनमें शकटाल जैसे धर्मनिष्ठ कुंभार भी सम्मिलित थे। हरिकेशी और मेतार्य जैसे अतिशूद्र भी भगवान् के संघ में साधुपद प्राप्त कर सके थे। कहना न होगा कि उस ज़माने में यह एक जबर्दस्त क्रान्ति थी। अब तक के ज्ञात इतिहास में भगवान् महावीर ही प्रथम महापुरुष है, जिन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध तीव्र और स्पष्ट स्वर में आवाज़ उठाई और अस्पृश्यों को अपने संघ में उच्च पद प्रदान किया।

महावीर की देन

१. जाति-पाँति की भेदभाव भरी दरारों को दूर कर मानव समाज के लिए सार्वभौमिक एवं सर्वसुलभ धर्मव्यवस्था स्थापित करना। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय वर्णों का अभिमान आदि बुराइयों को मिटाकर गुण विकास की ओर मानव-जाति को उन्मुख करना ही महावीर का अधिक लक्ष्य रहा है।

२. विराट् विश्व में सचराचर (जंगम एवं स्थावर) समस्त प्राणीवर्ग में एक शाश्वत स्वभाव है और वह है जीवन की आकांक्षा, सुख की शोध, महान् बनने की उत्प्रेरणा और परमानन्द प्राप्त करने की उद्भावना। इसलिए किसी को "मा हणो" न कष्ट ही पहुँचाओ और न किसी अत्याचारी को प्रोत्साहन ही दो।

३. आचार में अहिंसा, बुद्धि में समन्वय और व्यवहार में अपरिग्रह का आदर्श साकार करो।

४. आत्मा का स्वभाव ही धर्म है और विभाव ही अधर्म है, यही कारण है कि भगवान् ने पुरुषों की तरह स्त्रियों के भी विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की है।

५. भाषा के व्यामोह पर जो कि अभी तक भी भारत का खून चूस रहा है, और देश को प्रान्तों के नाम से बंटवारे कर खंडित कर रहा है, भगवान ने गहरा कुठाराघात किया है। इसलिए तत्कालीन पंडिताऊ भाषा संस्कृत में तत्वज्ञान न देकर उस समय की आम जनता की भाषा अर्ध-मागधी प्राकृत का ही भगवान् ने अपनी वाणी का माध्यम रखा है, जिससे सब लाभ उठा सकें।

६. ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए होने वाले पशुहिंसा से भरे यज्ञ, देवीपूजन तथा पशुबलिकर्म और पर्व के विरुद्ध में भगवान् ने अपनी आवाज बुलन्द की और संयम, तप, अहिंसा तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित की।

७. उनका उपदेश समता, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कषाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह आदि गुणों के विकास के लिए होता था।

८. मनुष्य का भाग्य ईश्वर के हाथों में न देकर, मनुष्य-मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता तथा पुरुषार्थ की प्रधानता और काल, कर्म, नियति, स्वभाव, तथा पुरुषार्थ का समन्वय स्थापित करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसी का नाम कर्मवाद है।

९. आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, और क्रियावाद महावीर की विशेष देन है।

१०. प्रत्येक आत्मा, परमात्मा बन सकता है, रागद्वेष-रहित व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इच्छाओं का निरोध ही यज्ञ है, आत्मा की निर्मलता धन-दौलत से नहीं। त्याग से ही कल्याण संभव है। अहंकार का दमन और पर का रक्षण ही क्षत्रियत्व है।

संसार के समस्त जीवों के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोद, निर्बल एवं विपन्न के प्रति दयाभाव और विपरीत वृत्ति वाले मनुष्य के प्रति माध्यस्थ भाव रखना ही धर्म है।

महावीर स्वामी दूसरों के प्रति हितैषी एवं अपने प्रति शोधक बनने का ही उपदेश देते थे।

तत्कालीन धर्म-प्रवर्तक

महावीर कालीन अन्यान्य धर्म प्रवर्तक :—जामाली, मंखली पुत्तगोशाल पूरणकश्यप, प्रक्रुद्धकात्यायन, अजितकेशी कम्बलि, संजय वेलट्ठिपुत्त और

गौतमबुद्ध आदि आदि भगवान् महावीर के समान काल में अपना-अपना धर्म स्थापित कर रहे थे। इनमें जामाली भगवान् महावीर के जामाता थे, जो महावीर के केवल-ज्ञान होने पर १५ वर्ष पश्चात् महावीर के विरोधी बन गए थे।

गोशालक

गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था। उसके सम्प्रदाय का उल्लेख आजीवक मत के नाम से आज भी कहीं-कहीं शास्त्रों में पाया जाता है। बौद्ध पिटकों में भी उसका उल्लेख है।

गोशालक का जीवन अत्यन्त विलक्षण था, किन्तु जितना विलक्षण था उतना ही उच्छृंखल भी था। उसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। भगवान् महावीर से उसे ज्ञान-प्राप्ति हुई। आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना में उसके जीवन का विकास हुआ। लेकिन उसकी बुद्धि ने पलटा खाया और अरिहन्त देव से उसने वाद-विवाद कर पराजय का मुख देखा। अन्त में उसने क्षमा याचना की, तत्पश्चात् उसका देहान्त हो गया यही गोशालक का रेखाचित्र है।

जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक को भगवान् महावीर से आध्यात्मिक ज्ञान की विरासत मिली थी। यहां तक कि उच्च विद्याएं भी उसने भगवान् की कृपा से प्राप्त की थीं। जिनमें तेजोलेश्या जैसी लब्धियां भी हैं लेकिन उसकी उद्दण्ड वृत्ति और उच्छृंखलता ने उसको आजीवक सम्प्रदाय बनाने के चक्कर में डाला, और उसने केवल नियति को मुख्य सिद्धान्त बनाकर सम्प्रदाय की स्थापना की।

उस समय तो, गोशालक का वर्चस्व एवं प्रभाव इतना था कि सम्प्रदाय चल निकला। लेकिन उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका प्रभाव कम हो गया। गोशालक का जीवन सुन्दर होते हुए भी शालीनता-हीन था; अतः महावीर ने उसे अपने सुशिष्य के स्थान पर कुशिष्य रूप में स्वीकार किया है।

गोशालक और महावीर का वर्णन भगवती सूत्र में बहुत विस्तार से दिया गया है। उसकी तेजोलेश्या से दो साधुओं का भस्म हो जाना और भगवान् के दाह का होना भी शास्त्र में वर्णित है।

उपर्युक्त सभी धर्म-प्रवर्तकों से भगवान् महावीर का दार्शनिक, सैद्धान्तिक अथवा आचारविषयक बहुत मतभेद है। महावीर समन्वय-दृष्टि अथवा अनेकान्तात्मक विचारणा को ही मुख्य महत्व देते थे। वे आग्रह को बुरा मानते थे।

विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा आंशिक सत्यों का समन्वय करना ही अनेकान्त है।

महावीर और बुद्ध

महावीर का विशेष सामना बुद्ध से हुआ। बुद्ध शाक्य गोत्रीय थे। शुद्धोधन महाराज के पुत्र थे, वे भी तपस्वी बने, उन्हें ज्ञान भी प्राप्त हुआ, उपदेश-परम्परा द्वारा उन्होंने भी अपने को अरिहन्त बताया।

महावीर और बुद्ध की तुलना इस प्रकार की जा सकती है :—

	महावीर	बुद्ध
पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
माता	त्रिशला	महामाया
गोत्र	कश्यप	कश्यप
ग्राम	क्षत्रियकुंडग्राम	कपिलवस्तु
जात	ज्ञात	शाक्य
जन्म संवत्	ई० पू० ५९९	ई० पू० ६००
स्त्री	यशोदा	यशोधरा
संतान	प्रियदर्शना (पुत्री)	राहुल (पुत्र)
दीक्षा	५६९ (३० वर्ष की उम्र में)	५७१ (२९ वर्ष की उम्र में)
आदितप	१२ वर्ष	६ वर्ष
ज्ञान प्राप्ति का स्थान	ऋजुबालुका तट	गया
निर्वाण	वि० सं० से (५२७) वर्ष पूर्व	वि० सं० ५२० वर्ष
निर्वाण स्थान	मध्यम अपापा (पावापुरी)	कुशी नगर
आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
महाव्रत	पांच महाव्रत	पांच शील
सिद्धान्त	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद (विभज्यवाद)

महावीर, और बुद्ध में समानता और विभिन्नता

जहां कुछ विभिन्नताएं हैं, वहां भगवान् महावीर और बुद्ध में समानताएं भी हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह और तृष्णा निवृत्ति आदि

में बुद्ध की भी दृष्टि बहुत ऊंची थी। ब्राह्मणसंस्कृति के सम्मुख ये दोनों श्रमण-संस्कृति के उज्ज्वल नक्षत्र थे।

न केवल एशियाई वसुन्धरा पर, वरन्, समस्त विश्व के कोने-कोने में दोनों ने अपनी दिव्य करुणा का अमृत प्रवाहित किया है और ज्ञान-प्रकाशद्वारा विश्व की भूत एवं भावी पीढ़ियों को मार्ग दर्शन दिया है।

जीवन-शोधन, अहिंसा-पालन और श्रमण के लिए आवश्यक नियमों में इन दोनों महापुरुषों में सामान्यतया अधिक अन्तर नहीं है।

दोनों में भोग के प्रति गहरी घृणा है। राग-द्वेष के प्रति शत्रुता है। आत्म-शुद्धि के लिए उत्कट प्रेरणा है। अहिंसा दोनों को प्रिय रही है।

दोनों संस्कृतियों की मूल प्रेरणा एक

जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति की मूल-प्रेरणा लगभग एक सी है। "पार्श्वनाथा चा चारयाम" ग्रंथ में पं० धर्मानंद कौशाम्बी ने तो यहां तक सिद्ध कर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम धर्म का ही पांच-शील अथवा अष्ट अंग के नाम से विकास किया है।

ऐतिहासिक विद्वान तो यहां तक खोज कर चुके हैं कि भगवान् बुद्ध पार्श्वनाथीय सम्प्रदाय के किसी साधु के साथ रहे थे। किन्तु बाद में जाकर उन्हें कठोर तपस्या के प्रति घृणा हो गई और उन्होंने अपना अलग मध्यम मार्ग निकाला।

"भारतीय संस्कृति और अहिंसा" में धर्मानंद कौशाम्बी ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम की तथा बुद्ध के मध्यम-मार्ग की वड़ी सुन्दर तुलना की है।

सम्यक् कर्म	(अहिंसा, अस्तेय)
सम्यक् वाचा	(असत्य)
सम्यक् आजीव	(अपरिग्रह)

इस प्रकार पार्श्वनाथ के चार यामों का समावेश अष्टांगिक मार्ग के तीन अंगों में हुआ है। शेष पांच भी अहिंसा के ही पोषक हैं। जैसे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

बुद्ध इस प्रकार का एवं वाचा का संयम, सम्यक्त्व करके मानसिक-शुद्धि की अभिवृद्धि की कल्पना करते थे।

जैन और बौद्ध धर्म में चाहे धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक मतभेद हो, तो भी

इन दोनों धर्मों ने और उनकी संस्थाओं ने विश्व में अहिंसा प्रचार कार्य का बहुत बड़ा अनुष्ठान रचा है। दोनों श्रमण संस्कृति के शुद्ध मूलाधार रहे हैं। आज भी बौद्ध समाज में जैनधर्म के प्रति श्रद्धाभावना है।

सात निन्हव और अन्य विपक्षो

१. भगवान् महावीर के केवल ज्ञान के १४ वर्ष पश्चात् बहुरत सम्प्रदाय के स्थापक जामाली निन्हव का नाम आता है। आज तो इस सम्प्रदाय का नाम ही शेष है।

२. १६ वर्ष बाद, जीव के प्रदेशों को लेकर, चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त ने एक बहुत बड़ा वितण्डावाद खड़ा किया था।

३. महावीर निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अव्यक्तवादी अषाढ़ाचार्य ने;

४. २२० वर्ष बाद समुच्छेदवादी महागिरि के प्रशिष्य और कौडिण्य के शिष्य अश्वमित्र ने साधारण बातों पर प्रपंच उठाकर, संघ में फूट डालने की कोशिश की थी।

५. २२८ वर्ष बाद द्वैक्रियवादी महागिरि के प्रशिष्य और धनगुप्त के शिष्य गंगाचार्य ने भी इसी प्रकार का प्रपंच खड़ा किया था।

६. ५४४ वर्ष पश्चात्, त्रिराशिवादी श्री गुप्त के शिष्य रोहगुप्त ने; और

७. ५८४ वर्ष पश्चात् अभद्रवादी गोष्ठा महिल ने साधारण सी बातों पर धनगुप्त और अश्वमित्र के समान फूट डालने का प्रयास किया था, परन्तु संघ अटूट रहा। फूट स्वयं फूट गई। तत्पश्चात् इन्होंने अपने मत खड़े किये।

महावीर संघ में सात निन्हवों ने भयंकरतम फूट डालने का प्रयास किया था। किन्तु संघ का सौभाग्य रहा कि फूट फल न सकी, और सातों निन्हवों को परास्त होना पड़ा।

सचेल अचेल—भगवान् महावीर के संघ में जो सबसे बड़ी खटकने वाली बात थी सचेल और अचेल की विवादास्पद गुत्थी।

इसका मूल कारण-है पार्श्वनाथ के साधु सचेल थे और महावीर का बल अचेल होने की ओर था। जिसका समाधान पार्श्वपात्यिक केशी कुमार श्रमण को, महावीर संघ के प्रथम गणधर, गौतमस्वामी के द्वारा दिया गया था।

याम, चार और पांच :—गौतमस्वामी ने चार याम की जगह पाँच याम सप्रतिक्रमण, रात्रि दिवस की व्यवस्था का जितना तर्कपूर्ण उत्तर दिया, उतनी

वस्त्रों के प्रति कठोर नीति नहीं अपनाई। मोक्ष के लिए पारमार्थिक लिंग, साधन, ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति का निर्देश किया और सचेल, अथवा अचेल को लौकिक लिंग मात्र कह कर और उसे पारमार्थिक सीमा से बाहर कहकर, उपेक्षा कर दी गई।

यही कारण थे कि समाज में सचेल और अचेल की कोई निश्चित और नियमित रूपरेखा तैयार नहीं हो सकी।

महावीर ने महाव्रत और प्रतिक्रमाणात्मक अन्तःशुद्धि पर जितना दृढ़ता से बल दिया उतनी दृढ़ता से सचेल अथवा अचेल के एकान्तिक पक्ष पर नहीं दिया। यही कारण है कि उनके समय में तो विवाद समन्वयात्मक सिद्धान्तों से और पार्श्वपात्यिक और महावीर संघ में समझौतेवादी दृष्टिकोण से समूचे संघ में प्रेम से काम चलता रहा, किन्तु जम्बू स्वामी एवं भद्रबाहु जी के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के समाज में से उठ जाने से सचेल और अचेल का पुराना विवाद श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम से फूट निकला।

इतना निश्चित है कि भगवान् महावीर ने जब गृहत्याग किया तब एक वसन चेल धारण किया था, क्रमशः उन्होंने हमेशा के लिए उस वस्त्र का त्याग कर दिया और पूर्णतः अचेल हो गए।

आचारांग सूत्र १ श्रुत, अध्याय ९. उद्देशा प्रथम में उनकी इस अचेलत्व भावना का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

जैसे कि :—

णोचेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते।
से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स॥ २

संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई, तं वौसज्ज वत्थ मणगारे॥ ४

णो सेवती य परवत्थं, परपाए वि सेण भुंजित्था।
परिवज्जियाण ओमाणं, गच्छति संखडिं असरणाए॥ १९

अर्थात् भगवान् महावीर के दीक्षा धारण समय इन्द्र प्रदत्त एक देववस्त्र प्राप्त हुआ था किन्तु भगवान् ने यह निश्चय किया कि मैं इसे छोड़कर ही शीत सहूंगा और फिर उन्होंने आजीवन वस्त्र धारण नहीं किया। इस देव-दत्त वस्त्र को परम्परा रूप में ही स्वीकार किया और तेरह मास उपरान्त उतार दिया।

तत्पश्चात् अचेलक होकर विचरने लगे। सर्वथा वस्त्र रहित विचरण करने लगे। वे न तो पराए पात्र में भोजन करते थे, मानापमान का सर्वथा त्याग कर, स्वयं भगवान् गृहस्थों के रसोईघर में जाकर निर्दोष आहार की गवेपणा करते थे।

उपर्युक्त पाठ द्वारा प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर साधनावस्था में सर्वथा अचेल और उपकरण रहित थे, किन्तु भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध में साधुओं की वस्त्रैषणा में वस्त्र रखने का स्पष्ट विधान किया है। आचारांग सूत्र १४ अध्याय प्रथम उद्देशे में इसका स्पष्टीकरण मिलता है कि साधु ऊन का, पान का, कपास और रूई का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

भगवान् द्वारा अचेलत्व की प्रशंसा

लेकिन वस्त्र-विधान करने पर भी भगवान् महावीर आचारांग के छठे अध्याय के ३ उद्देशे में अचेलक साधु की प्रशंसा करते हैं और साधु के तीन मनोरथों में पहला मनोरथ 'अचेल भूयो आवई' के द्वारा अचेलक बनने की ओर साधु को उत्प्रेरित करते हैं। किन्तु, इन उद्धरणों से स्पष्ट अचेलकत्व का ऐकान्तिक आग्रह रखने वालों के लिए वस्त्र- विधान किया और अचेलकत्व को आदर्श रखा इससे ऐकान्तिक किसी भी सिद्धान्त सचेलकत्व व पूर्ण अचेलकत्व की पुष्टि नहीं होती है। इसलिए शास्त्र में पार्श्वापात्यिक परम्परा में से निकल कर महावीर संघ में सम्मिलित होने वाले साधु और स्थविरों का, जहां सभी परिवर्तनों का उल्लेख आता है, वहां पर उनका सचेलकत्व से अचेलकत्व की ओर आने का कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। जबकि उनके चारयाम के स्थान पर पांच महाव्रत और रात्रिदिवस के प्रतिक्रमण का स्पष्ट विधान किया गया है। हमने उपर्युक्त स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक समझा है कि श्वेताम्बर आम्नाय में वस्त्र पर और दिगम्बर आम्नाय में अवस्त्र पर जोर दिया गया है। लेकिन भगवान् महावीर न सचेलकत्व और अचेलकत्व के आग्रही थे; न विरोधी।

क्योंकि भगवान् महावीर को वस्त्रविवाद में कुछ रस नहीं था और न पारमार्थिक सिद्धि में वस्त्रों का कुछ भी उपयोग वे मानते थे। उन्हें तो साधक के लिए अन्तःशुद्धि की अधिकतम अपेक्षा थी। यही कारण है कि उस समय वस्त्रावस्त्र के विवाद को समन्वयात्मक दृष्टिकोण से सुलझा लिया गया। हां,

द्रव्य, क्षेत्र, काल और मानव की उसमें व्यवस्था कर दी गई। जिसके अनुसार युगानुरूप समस्त संघ बाह्य विधान में उचित परिवर्तन कर सके। ध्यान रहे, अचेलकत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर आम्नाय में स्त्री के मोक्ष का द्वार बंद कर दिया गया। इसमें हम आग्रह का विकृत रूप कह सकते हैं। त्याग की ओर बढ़ना एक सत्य सिद्धान्त है, जो श्रेयस्कर है। किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के महत्व को भुलाकर नहीं, वरन् उनको योग्य कसौटी पर कसकर ही किसी सिद्धान्तानुसार प्रगति करना अधिक श्रेयस्कर होता है।

भगवान् महावीर की अन्य धर्मों पर छाप

श्रमण संस्कृति के प्रतिष्ठापकों में महावीर का एक अनन्यतम स्थान है। धार्मिक अन्धश्रद्धा, जनता की रूढ़िवादिता, और पाखंड के ठेकेदारों के विरुद्ध महावीर ने क्रांति की, और सात्विक धर्म का प्रचार किया।

आत्मशुद्धि और राग-द्वेषनाश की ओर उनका प्रधान उद्देश्य था। जिसका प्रभाव तत्कालीन वैदिक परम्परा पर अधिकतम पड़ा।

भारत में श्रमण और ब्राह्मण के नाम से उभयमुखी आर्यसंस्कृति का संस्मरण हुआ। जैन और बुद्ध धर्म के विचारों को श्रमण-संस्कृति वैदिक तथा वैष्णवों के सम्प्रदायों की विचारधारा को वैदिक-संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है।

वैदिक एवं जैन संस्कृतियां-समन्वयात्मक वृत्ति में परिपूर्ण

इतिहास तथा वैदिक वाङमय इस बात का साक्षी है कि वैदिकों के पास श्रमण तथा साधु-संस्था के लिए कोई सुव्यवस्थित विधान-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र उपलब्ध नहीं है। यद्यपि बौद्धों और जैनों के पास भी गृहस्थों के लिए धर्म-विधान के सिवाय गृहस्थधर्म को बताने वाले धर्मग्रंथों का अभाव है।

इसीलिए मैं समझता हूं कि ये दोनों संस्कृतियां अपने आप में नहीं, अपितु समन्वयात्मक वृत्ति में ही परिपूर्ण हैं। यदि हम वैदिक संस्कृति को पेट और चरण कह सकते हैं, तो जैन और बौद्ध संस्कृति को हृदय और मस्तिष्क कह सकते हैं।

संस्कार और श्राद्ध, कर्म और त्याग, निवृत्ति और प्रवृत्ति, इन सबका मेल जीवन के क्षेत्र में यदि आवश्यक है तो वैदिक और जैन संस्कृति का भी समन्वय अत्यधिक उपयोगी है।

ऐतिहासिक भागों में यदि सचोट तर्क द्वारा इस संस्कृति के आदान-प्रदान का यथार्थ वर्णन किया जाये तो हमें कहना होगा कि साधु संस्था का विधान जैन और बौद्ध धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है, वैदिक धर्म में साधु धर्म का विधान केवल जैन आचार शास्त्र का वैदिक छायानुवाद मात्र है। जैन तथा दौद्ध सम्प्रदाय में गृहस्थकर्मों का सांसारिक विधान वैदिक विधान का भावानुवाद मात्र है।

जैन, बौद्ध तथा वैदिक ये तीनों विचारधाराएं समुचित रूप में ही वास्तविक अनेकान्त की अजस्रप्रवाहिनी अमर धाराएं हैं। इनके संगम से भारतीय-संस्कृति का सूर्य चमका है।

यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि ये तीनों धाराएं एक दूसरे से प्रामाणिक एवं अनुप्राणित हैं। तीनों ने जी भर कर एक दूसरे से अपने पोषण तत्वों को प्राप्त किया है। कम से कम, निवृत्ति त्याग तथा साधु संस्था का नियमित रूप वैदिकों को जैन धर्म की देन है। अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा वैष्णवों की आहार शुद्धि और आत्मा तथा परमात्मा की एकरूपता तो वैदिक धारा को जैन धर्म की ही विरासत है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के अतिरिक्त सर्वप्रथम, भाव-यज्ञ की स्थापना की, जिससे देश के पवित्रतम ब्राह्मणों की हिंसाप्रधान यज्ञवृत्ति से रुचि हट गई।

इसी समय, राक्षसी वृत्ति को छोड़कर राजाओं ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। वैदिक गृहस्थों और ब्राह्मणों पर महावीर की अहिंसा की इतनी छाप पड़ी कि आज सैकड़ों वर्षों से याज्ञिक हिंसा देश से लोप हो गई।

संन्यासियों, त्रिदण्डियों और योगियों का अधिकाधिक ध्यान अहिंसा तथा महावीर प्रणीत श्रमण-आचार-शास्त्र पर गया। जिसके फलस्वरूप अध्ययन अथवा श्रवण द्वारा उन्होंने अपने सम्प्रदायों में वे नियम लागू किए। त्रिदण्डी संन्यासियों की क्रिया पर जैनधर्म की श्रमण-परम्परा का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अन्य धर्मों पर श्रमण-परम्परा की छाप

बुद्ध और महावीर के साधुओं में सैद्धान्तिक आचार-सम्बन्धी मान्यताएं तो कितनी ही एक जैसी दीखती हैं।

जामाली और गोशालक की परम्परा ने महावीर स्वामी की श्रमण परम्परा से ही पाठ पढ़ा था।

सचमुच, महावीर की श्रमण-संस्था अपेक्षाकृत बहुत सुव्यवस्थित और समुन्नत थी। आज भी महावीर के साधुओं के आचार-संयम तथा तप की धूम वैज्ञानिक विश्व आश्चर्य से देख रहा है कि जैन साधु किस प्रकार इतना त्याग कर लेते हैं, और अपने जीवन का कल्याण करने में सफल होते हैं। भारतवर्ष में आज भी जैन साधुओं को जितना विश्वास तथा आदर दिया गया है, वह सब महावीर की समुचित व्यवस्था का ही वरदान है।

तत्कालीन संकट और-साधु-संस्था :—जैन साधु परम पर्यटक होता है। इसका घर बार परिवार उसके कन्धों पर रहता है। ग्राम, पिंडोलक और नगर पिंडोलक साधुओं को भगवान् ने पापी श्रमण तक कह दिया क्योंकि एक जगह अधिक देर निवास करना ही संयम शिथिलता का कारण बन जाता है।

जैन श्रमण पाद विहारी है वह दूसरे के सहारे के आधीन नहीं है। उसे तो अपने ही पैरों से समूची-भूमि, विकट अटवी तथा भयानक वनान्तर नापने पड़ते हैं। इसलिए शास्त्रों में साधु संस्था पर आए हुए घोरतम संकटों का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही, उस अपवाद-मार्ग का भी निर्देश किया गया है जिसे साधु समय-असमय पर उचित विधान के अनुसार अवलम्बन रूप में अपना सकें। साधु-साध्वी के सामने मुख्य समस्या चोर-डाकुओं का उपद्रव, नदी पार करने के लिए वाहन का उपयोग, बीमारी, सर्प-विच्छु का विषैला उपद्रव मिटाने के लिए औषधोपचार, संकटकालीन स्थिति में राजसंस्था में जैन साधुओं का हस्तक्षेप, विधर्मी राजा द्वारा उठाये गये उपद्रव का निराकरण, दुर्भिक्ष के समय भिक्षा की समस्या का समाधान, धार्मिक संकट का प्रतिकार, संघ विपत्ति का निवारण आदि समस्त समस्याओं का समाधान-भगवान् महावीर ने विवेक पूर्ण आचरण करने के लिए अपवाद मार्गों का उल्लेख किया है।

प्राचीन काल में श्रमण-संस्था का कष्ट सहन

समय की बहुत विचित्र गति है। अतएव, साधु-साध्वियों के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा बांध दी है। जिससे समय पड़ने पर साधु समाज संघ के साथ अनुमति कर विशेष विधान भी बना सकता है, ऐसा अधिकार भगवान् महावीर ने संघ को दिया है।

यदि ऐतिहासिक शोध एवं खोज की दृष्टि से देखा जाय तो आज २५०० वर्ष पहले के पिछले जमाने में श्रमण संस्था को किन किन कष्टों का सामना करना पड़ा होगा, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भयंकर वनान्तरों में होकर साधु श्रमणों को विहार करना पड़ता था। आबादियां दूर-दूर तथा बहुत थोड़ी थीं। जंगल, पहाड़ नदी-नाले, रेगिस्तान सब में से होकर अपनी राह, आप बनानी पड़ती थी, किन्तु ध्यान रहे, श्रमण, संसार की बाधाओं के बीच अपनी राह स्वयं बनाने के लिए ही तो आया है। लीक-लीक पर चलना महावीर का मार्ग नहीं था। क्योंकि लीक पर ब्राह्मणों की याज्ञिक हिंसा और क्षत्रियों के उद्दण्ड जीवन की गहरी छाप पड़ी थी।

उस काल में राज्यों की अराजकता भी साधुओं के लिए अत्यन्त कष्टकारी थी। किसी राजा के मर जाने पर, राज्य सत्ता-प्राप्ति के लिए जो बखेड़े खड़े होते, उनका विषैला प्रभाव साधुओं पर भी पड़ता और उन्हें अनेक भांति त्रास दिये जाते।

उस समय चोर-डाकुओं के गांव के गाँव बसते थे, जिन्हें चौरपल्ली कहा जाता था। चोरों का नेता उनका नेतृत्व करता। ये चोर साधु और साध्वियों को बड़ा दुख देते थे।

यदि राजा विधर्मी हुआ तो जैन-साधुओं को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। उन्हें बहुधा गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया जाता था।

बस्ती के निकट रहने वाले साधुओं को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। उन्हें बहुधा अपने उपाश्रय अथवा स्थानक का पहरा देना पड़ता था। बहुधा दुराचारिणी स्त्रियां अपन भ्रूण उनके निकट छोड़कर चली जाती थीं। चोर चोरी का माल छोड़कर चले जाते थे। सर्प, बिच्छु और कुत्ते आदि से अन्य साथी संतों की निरन्तर रक्षा करनी पड़ती थी।

दुष्काल की भयंकरता का प्रभाव भी बहुत बुरा पड़ता था। पाटलिपुत्र का दुष्काल कुख्यात है, जबकि भिक्षा के अभाव में सहस्रों साधुओं को देश छोड़ना पड़ा था और अनेक आगम ग्रंथ नष्ट हो गए थे।

इस प्रकार के अनेकानेक कष्ट और आतंक-विशेष उपस्थित होने पर साधुओं को धर्म एवं देह रक्षा के लिए शरीर त्याग करने को भी बाध्य होना पड़ता था।

आज के शांतिमय राष्ट्रीय जीवन में जबकि सामाजिक न्याय और राज्य शासन की समुचित व्यवस्था है। किन्तु उस काल के कष्टों का अनुमान लगाना दुष्कर है, जिनकी जलती ज्वाला से जीवित निकल कर भगवान् महावीर के सहस्रों अज्ञातनाम साधुओं ने अपने धर्म और कर्त्तव्य का पालन किया था। वे अत्याचारी न रहे, जिन्होंने अनेक अराजकत्व काल में हमारे पूर्वज साधुओं को अमानवीय पीड़ायें दी थीं, वे लोग न रहे, जिनके अधर्ममय शासन में जैन-साधुओं की कष्ट-कहानियां बढ़ गई थीं, वे सब न रहे, पर जैनधर्म और जैन साधु आज भी विद्यमान हैं। यह अन्याय और अधर्म पर, न्याय, धर्म और सत्य की जीत का सबूत है।

श्रमण और प्रचार

महावीर का धर्म किसी की जन्मगत, वर्ण-वर्गगत अथवा समाजगत बपौती नहीं है। यह तो अन्तःशुद्धि पर बल देने वाली अत्यन्त वैज्ञानिक विचारधारा है, जो मनुष्य को सहज सरल तरीके से आध्यात्मिक जीवन, और लौकिक पारलौकिक मुक्ति की ओर ले जाती है। अब, यह तो व्यक्ति और समाज की साधना पर निर्भर है, कि वह इस अमृत में से कितनी बूंदें प्राप्त कर ले।

विचार का जीवन–प्रचार आज भी पहले भी :— विचार का जीवन, प्रचार है। विचार धारायें प्रचार-प्रसार के आधार पर जीवित रहती हैं। भगवान् महावीर के विचारों को प्रचार ने ही अक्षुण्ण रखा है। यद्यपि प्रचार उद्देश्य नहीं है, साध्य नहीं है, पर वह साधन अवश्य है।

विचार-धारा का जितना विस्तार होगा, समाज में उतना ही प्रचार होगा। विचार-विषयक जितनी जानकारी बढ़ेगी, उतनी ही अनुयायी वर्ग की संख्या में वृद्धि होगी, और विचारधारा को भी जीवित रहने के लिए अनुकूल वातावरण मिलेगा। पारस्परिक सौहार्द, सहयोग एवं साहस का संचार होगा। महावीर सबसे बड़े प्रचारक एवं दिव्य संदेश संवाहक थे। उन्होंने अपने समस्त साधुओं, श्रावकों, साध्वियों और श्राविकाओं को आह्वान किया कि "धर्म प्रचार के पवित्रतम अनुष्ठान में यथाशक्ति योग देकर आत्मोद्धार एवं परोद्धार करो!"

भगवान् महावीर धर्म प्रचारकों, समाज व्यवस्थापकों और अहिंसा के सेवकों को सदैव प्रोत्साहन देते थे। उपासक दशांगसूत्र में गोशालक मत के समक्ष आर्हती विचार धारा को विजयिनी बनाने वाले कुण्डकोलिया श्रावक को भगवान महावीर ने "धन्योऽसि कुण्डकोलियाणं तुमं" कहकर धन्यवाद दिया है।

शंख श्रावक, कामदेव तथा आनन्दादि श्रावकों का विस्तृत वर्णन, गौतम स्वामी को तपस्वियों के स्वागतार्थ जाने के लिए अनुमति देना व स्कन्धक संन्यासी जो गौतम स्वामी के वाल मित्र थे उन्हें गौतम गणधर को स्वागतार्थ ज़ाने की अनुमति देना महावीर की महानता प्रकट करते हैं।

केशीकुमार श्रमण का परदेशी को समझाने के लिए जाना, साधुओं का नगर नगर में घूमना—यह सब व्यवस्थाएं प्रचार के लिए ही हुई थीं। राजा परदेशी का जीवन और केशीकुमार श्रमण का श्वेताम्बिका जाना प्रचार वृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

धर्म के लिए आवश्यक है, प्रचार :—प्रचार विना धर्म कभी ठहर नहीं सकता। इसलिए भगवान् ने धर्म प्रभावना तथा धर्म प्रद्योत करना सम्यक्त्व के महत्वपूर्ण अंग माने हैं। दीक्षा से पहले भगवान् महावीर को नवलोकान्तिक देवताओं ने जो प्रार्थना की है, उसमें भी आत्मकल्याण की अपेक्षा "सव्व जग्ग जीव हिंयं तित्थं, पवत्तेहिं" का उल्लेख आया है, अर्थात् जगत् के हित के लिए तीर्थ की प्रवर्तना करो। (आचारांग सूत्र)

विश्व के उद्धार के लिए ही अहिंसक धर्म की स्थापना की गई है। भगवान् महावीर ने उन्हें धन्य पुरुष कहा है, जो संकटों का सामना करके अहिंसा तथा आर्हतों की संस्कृति का प्रचार करते हैं।

महावीर और भारत की तत्कालीन अवस्था

श्रमण परम्परा को अधिक सुव्यवस्थित करने के कारण महावीर के पास एक शान्ति सेना बनाई गई जो सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में क्रांति कर सकी।

यही कारण है कि महावीर तत्कालीन बुराइयों के विरुद्ध लड़ सके। यद्यपि उनकी विचारधारा का मोड़ निवृत्ति-गामी था, तथापि विधायक विचार कम महत्वपूर्ण नहीं थे। उस काल में यज्ञों में जो हिंसा हो रही थी, उसकी अमानवीयता से समाज और प्रजा कांप उठी थी। लेकिन ब्राह्मण एवं उच्चवर्ग के सम्मिलित षड्यन्त्र के फलस्वरूप किसी व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उठ खड़ा होता और असामाजिक, अमानवीय प्रवृत्तियों के संचालकों को ललकारता। समाज एक बड़ा बंदीगृह था, जहां वर्णाश्रम और भेद उच्चवर्गों की दया और दान पर निर्भर था। उसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं थी, क्योंकि

जाति और सम्प्रदाय के अन्यत्र व्यवित का अस्तित्व नहीं था। ऐसे अंधकारमय युग में प्रकाश की किरण के समान महावीर की महागिरा गुंजित हुई। व्यक्ति-व्यवित को अपना मुवितदाता मिला। न केवल मनुष्य, वरन् पशुओं ने भी शांति की सांस ली। यज्ञ का जो धूमिल धूम्र पशुओं के लहू और मज्जा से गंधित था, अब केवल घी से पूर्ण रहने लगा।

महावीर के साधु, सेवक सेना

ज्ञान, कर्म और पाण्डित्य के दावेदारों के सिर झुक गए—यह ज्ञान पर हृदय की, कर्म पर निष्काम भावना की और पांडित्य पर प्रेम की विजय थी। यह मानवता की वह सर्वोच्च स्थिति थी जो मानव में तब तक चले आए दानवत्व का अन्त करती थी। याज्ञिक हिंसा क्या बंद हुई मानो कराल काल के काण्ड का मृत्युगीत बंद हो गया। प्रेम, शान्ति और त्याग का वातावरण मुखरित हुआ।

इसके अतिरिक्त महावीर स्वामी ने तद्युगीन समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार प्रदर्शित किए। यहां तक कि भगवान् ने व्यापार में संतुलन, सत्य और अमूर्च्छा का श्रावक को व्रत दिया।

साधुओं के द्वारा महावीर स्वामी देश की आध्यात्मिक शिक्षा चाहते थे। सेवकों की एक ऐसी सेना चाहते थे जिनके जीवन का धर्म मनुष्य-मात्र को आध्यात्मिक मार्ग पर लाना हो।

अर्थतंत्र की भावी विजय से महावीर स्वामी परिचित थे। उन्होंने अपनी दूर दृष्टि से यह जान लिया था कि मनुष्य धन का दास बनने वाला है और धन से दास बनाने वाला है।

इस रोग से समाज का निदान करने के लिए महावीर ने वर्गहीन अहिंसक समाज का विधान दिया। समता तो उन्होंने दी ही, साथ ही अपनी स्वल्प आवश्यकता से अधिक रखना भी पाप बतलाया। अपरिग्रह का उपदेश दिया। इसी प्रकार अणुव्रत-व्यवस्था की।

भगवान् महावीर की महाव्रतों की व्यवस्था और जीवन-मुक्ति का उद्देश्य और प्रमाद के प्रति घृणा, प्रमाणित करते हैं कि वे अकर्म में कर्म और कर्म अभाव में मुवित का उद्देश्य साकार करना चाहते थ।

उन्होंने भारतीय जीवन में अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा करते हुए

संकल्पात्मक हिंसा त्यागने पर अधिक जोर दिया है। हिंसा जीवन में होती है, पर हिंसा के कम से कम होने पर अहिंसा की ओर उन्मुख रहना ही भ० महावीर ने श्रावक का आदर्श उद्घोषित किया है। यदि मनुष्य इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है तो उसका जीवन उज्ज्वल होता है, और कल्याण के निकट पहुंचता है। भगवान् महावीर ने भारत को अशुभ से शुभ की ओर व शुभ से शुद्ध की ओर प्रवृत्त होने का संदेश दिया है।

उनका संदेश वाणी की अपेक्षा कर्म के रूप में अधिक था। कर्म के आधार पर दिया यह सन्देश समस्त चराचर के कल्याण-निमित्त था।

वे अहिंसा से मैत्री, सत्य से विश्वास और अचौर्य से निष्कपट और ब्रह्मचर्य से तेज ग्रहण कर अपरिग्रह से मनुष्य को परम पुरुषार्थी बनाना चाहते थे।

भारतीय इतिहास के उन चार महापुरुषों में से, जिन्होंने आज की सभ्यता का निर्माण किया और आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा की उनमें, राम कृष्ण, बुद्ध और महावीर हैं।

उन्होंने भोग पर त्याग को विजेता बनाया। मनुष्य कार्य करे, परन्तु उसका उद्देश्य पवित्र हो। सम्यक् ज्ञान के लिए दृष्टि शुद्ध रखकर देखें। संसार का अध्ययन करें। वृत्तियों को शुद्ध करें। जब तक मनुष्य अपना विवेक जगा ससार पथ पर चलता रहेगा, तब तक उसके समस्त कर्म सुभाव बनते जाएंगे।

यही कारण है कि भारतीय संस्कृति अहिंसामय, पुरुषार्थमय और साहित्य जीवनमय, अथवा जीवन मुक्तिमय बन गया।

लोक भाषा का प्रश्रय

लोक जीवन पर इस अमृत वाणी का अपार प्रभाव पड़ा। समाज की उच्छृंखल अव्यवस्था का अन्त आया और मनुष्य ने मनुष्य बनकर रहने का संकल्प किया। उसने अच्छा बनने का व्रत लिया।

साहित्य के विविध क्षेत्रों में मनुष्य-मन की सकाम प्रवृत्तियों को अपना बीज बोने का अवसर न मिला। इससे आध्यात्मिक साहित्य की उन्नति हुई, और जीवन सहज स्वतंत्र हुआ और बुद्धि निरामय हुई। भगवान् लोकभाषा में ही लोक-साहित्य-निर्माण देखना चाहते थे। इसी हेतु उन्होंने लोकभाषा का आश्रय लिया।

वे चाहते थे कि साहित्य कलात्मक और सुन्दर बनाने वाला हो।

महावीर की परम्परा की रक्षा

भगवान् महावीर ने बुराई और अविवेक के विरुद्ध जो आग सुलगाई थी उसे निरन्तर जलाए रखने वाले और उसकी चिनगारियों को संभालने वाले उन बुराइयों और अविवेक को नष्ट न कर सके अपितु अविवेक उन्हें नष्ट कर गया। जिस जड़वाद, जातिवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध महावीर उठे थे, वही जैनियों में घर कर गया।

अव्रती एवं अप्रत्याख्यानी का जैनधर्म में स्थान नहीं था, न है, लेकिन वे ही व्रतभ्रष्ट जाति से जैन कहलाने लगे। आज महावीर-परम्परा की रक्षा करने की सर्वाधिक आवश्यकता उठ खड़ी हुई है। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह और प्रेम के मार्ग से जातीय जीवन विचलित हो गया है। उसे अपने मार्ग और अपनी गति पर लाना है। भगवान् महावीर की परम्परा ही उसे जीवित रख सकती है।

विश्व के नाम महावीर का संदेश

भगवान् ने अहिंसा को मुक्ति स्वरूपिणी माना है। प्रेम और अहिंसा का उनका दिव्य सन्देश पिछले २५०० वर्षों से विश्व की संत्रस्त मानवता को शांति देता रहा है, लेकिन आज जब देश और विदेश की सीमाएं टूट गई हैं और मनुष्य ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है, उसकी समस्या और देश की सीमाएं बहुत बृहद् रूप ले चुकी हैं। संसार प्रतिपल संकटापन्न स्थिति से घिरा रहता है, क्योंकि भारत जैसे अहिंसक देशों की कमी है, और कतिपय देश युद्ध और हिंसा में ही मानव-जाति का कल्याण देख रहे हैं।

लेकिन, महावीर का मार्ग अपना कर मानव जाति एक दिव्य शांति को प्राप्त करेगी जो अहिंसा का सम्बल बनेगी, और अहिंसा, संतप्त संसार को अपने शासन में लायेगी। यह शासन आत्मशासन होगा और ऐसे शासन में मनुष्य अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जिएगा।

तब महावीर का सन्देश--अन्तर्राष्ट्रीय समाज रचना का, विश्व-पार्लियामेंट का, विश्व-साकार का यंत्र, तंत्र और मंत्र बनेगा।

और वह दिन दूर नहीं है, क्योंकि मनुष्यता अपनी विषमताओं और विडम्बनाओं से परित्राण पाने को बद्ध-परिकर हो, खड़ी है।

शिष्य-परम्परा

भगवान् महावीर के सर्वज्येष्ठ शिष्य यद्यपि गणधर इन्द्रभूति थे, मगर भगवान् के निर्वाण के साथ ही वे केवली हो चुके थे, अतएव सर्वप्रथम संघ के आचार्य की उपाधि प्राप्त करने का श्रेय पांचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी को मिला। इन सुधर्मा स्वामी से ही श्रुत की परम्परा जारी हुई। सौ वर्ष की उम्र में इन्हें भी निर्वाण प्राप्त हो गया।

सुधर्मा स्वामी के पश्चात् जम्बू स्वामी दूसरे आचार्य हुए। यह अन्तिम केवली हुए। इनके बाद इस क्षेत्र में फिर किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं हुई।

जम्बू स्वामी के पश्चात् तीसरे आचार्य प्रभव स्वामी थे। पहले वह पांच सौ चोरों के सरदार थे। दूसरे दिन प्रभात में मुनि दीक्षा लेने को उद्यत जम्बू कुमार के घर चोरी करने गये। अकस्मात् जम्बू कुमार से साक्षात्कार हो गया और वह भी वैरागी बन कर दीक्षित हो गए। आखिर वही उनके उत्तराधिकारी हुए।

जम्बू स्वामी तक दिगम्बर-श्वेताम्बर-परम्परा का एक रूप है। उनके पश्चात् दोनों परम्पराओं में भेद हो गया है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रभव, स्वयंभव, यशोभद्र, संभूति विजय और भद्रबाहु का उल्लेख है, तो दिगम्बर परम्परा में, विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु के नाम मिलते हैं।

प्रतीत होता है, कि जम्बू स्वामी के पश्चात् ही संघ की एकता शिथिल होने लगी थी, फिर भी मतभेद ने उग्र रूप धारण नहीं किया था। यही कारण है कि दोनों परम्पराएं भद्रबाहु स्वामी को श्रुतकेवली स्वीकार करती हैं।

भद्रबाहु स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। उन्होंने वीरनिर्वाण सं० १३९ के पश्चात् आचार्य यशोभद्र के पास दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा के समय उनकी उम्र ५३ वर्ष की थी। इस उम्र में दीक्षित होकर भी उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। १४ वर्ष तक अखण्ड वीरसंघ के आचार्य रहे। ६६ वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया।

उनके समय की प्रसिद्ध घटना द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष है, जिसके कारण वे दक्षिण में चले गये। इस दुर्भिक्ष का संघ पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा।

संघ छिन्न-भिन्न हो गया, श्रुति परम्परा से चलने वाले श्रुत का बहुत सा भाग विच्छिन्न हो गया। बड़े-बड़े श्रुतधर, अनेक साधु, काल के गाल में समा गये।

भद्रबाहु स्वामी ने दश आगमों पर निर्युक्ति रची, ऐसा जैन परम्परा में प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् कोई श्रुतकेवली अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतधर नहीं हुआ, तथापि दोनों परम्पराओं में अनेक प्रभावशाली, अध्यात्मनिष्ठ, सिद्धान्त के मार्मिक ज्ञाता, संयम परायण और प्रभावक आचार्यों का क्रम चलता रहा है, जिसमें से कुछ का परिचय साहित्य के प्रकरण में दिया जायगा। शेष आचार्यों के परिचय के लिए ऐतिहासिक ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

गुणेहि साहू अगुणेऽहि साहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो राग दोसेहिं, समो स पुज्जो॥

गुणों से साधु होता है, और अगुणों से असाधु। सद्गुणों को ग्रहण करो, और दुर्गुणों को छोड़ो। जो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेष में समभाव रखता है, वह पूज्य है।

सद्धं नगरं किच्चा, तव संवर मग्गलं ।
खंति निउण पागारं, तिगुत्तं दुप्पघंसयं ॥

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं चाईरियं सया ।
धिइंच केयणं किच्चा, सच्चेण परिमंथए ॥

तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्म कंचुयं ।
मुणी विगय संगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ९, गा० २०-२२ ।

ओ साधक !

श्रद्धा को नगर बनाकर, तप संवर रूप अर्गला, क्षमा रूप कोट, मन वचन तथा काया के क्रमशः बुर्ज, खाई तथा शतघ्नियों की सुरक्षापंक्ति से अजेय दुर्ग बनाओ। और पराक्रम के धनुष्य पर, इर्या समिति रूपी प्रत्यंचा चढ़ा कर, धृति रूपी मूठ से पकड़, सत्य रूपी चाप द्वारा खींच कर, तप रूपी बाण से, कर्म रूपी कंचुक कवच को भेदन कर दो, जिससे संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर, मुक्ति के परमधाम को प्राप्त करो ।

मुक्ति-मार्ग

मुक्ति मार्ग

"बुज्झिज्जति तिउट्टिज्जा,
बंधणं परिजाणिया।"
—सूयगड़ांगसुत्तं।

जैनधर्म आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति पर पूर्ण विश्वास करता है, जिससे आत्मा अपने बन्धनों को सदा के लिए तोड़ देता है। और अपनी अनन्त असीम नैसर्गिक शक्तियों का परिपूर्ण विकास करके शाश्वत सिद्धि का लाभ करता है।

महावीर कहते हैं—"गौतम! जो जानता है, वही बन्धनों को तोड़ता है। ज्ञान की सार्थकता अन्धकार को दूर करके आलोक को प्राप्त करना है और चारित्र धर्म की आवश्यकता उस आलोक में दृष्टिगोचर होने वाले दोषों को दूर कर आलोकित स्थान को स्वच्छ एवं पावन बनाना है।"

जैनधर्म के अनुसार, जिससे तत्व का यथार्थ बोध मिलता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जिससे तत्वार्थ पर अडिग अडोल विश्वास प्राप्त होता है, उस दृढ़ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और जिस आचारप्रणालिका के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों को नियंत्रित किया जाता है, जीवन के अन्तरंग और बहिरंग को स्वस्थ एवं संशुद्ध रक्खा जाता है, ऐसी दोषनिर्नाशिनी पद्धति और गुणविकासिनी पद्धति सम्यक् चारित्र कहलाती है। यही जैनधर्म की

परमपावनी त्रिवेणी है। जिसमें स्नान करने वाला साधक निर्मल, निर्विकार और निष्कलुष बन जाता है।

जीवन शोधन और मुक्ति लाभ के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने वाले साधक के जीवन में ज्ञान, आलोक, परमसत्य की श्रद्धा एवं इन दोनों से प्रेरित प्रवृत्ति, व्यवस्थित रूप से कार्य करती है, जो इस त्रिपुटी[1] का अवलम्बन लेता है, वही संसार में सच्चा आध्यात्मिक यात्री है, मुमुक्षु है और वही अन्त में चरमसीमा का आत्मविकास प्राप्त कर सकता है।

आर्यावर्त के सभी आस्तिक धर्मों का उद्देश्य अन्ततः मुक्तिलाभ[2] करना है, फिर चाहे उसे परमतत्व की उपलब्धि कहा जाय, चरमपुरुषार्थ की प्राप्ति कहा जाय, मुक्ति या सिद्धि कहा जाय अथवा ब्रह्मलाभ आदि कुछ और कहा जाय। जैनधर्म प्रत्येक आत्मा में ईश्वरीय गुणों की सत्ता को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता है, और उन गुणों की स्वाभाविक अभिव्यंजना को ही मुक्ति या सिद्धि मानता है। सिद्धिलाभ के लिए वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी की अनिवार्यता स्वीकार करता है और स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि ज्ञान विहीन[3] कोई भी कर्मकाण्ड क्रियाकलाप तप, जप, काम-क्लेश, देहदमन आदि जैसे उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान से भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्मदशा प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग तीनों का जीवन में समन्वय होना ही है।

वस्तुतः ज्ञान और विश्वास का सार शुद्धाचार है। मानव-जीवन में चारित्र का सर्वाधिक महत्व है। जीवन की ऊंचाई उसके कोरे ज्ञान या विश्वास से नहीं आंकी जा सकती। दिव्यता की ओर होने वाली यात्रा का मुख्य मापदण्ड चारित्र ही है। यही क्यों, दैनिक जीवन व्यवहार में भी हम देखते हैं कि विश्वास और ज्ञान जब तक मनुष्य के जीवन में साकार नहीं हो जाते तब तक मनुष्य किसी भी सांसारिक उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

संसार एक अनन्त अविराम प्रवाह है, तो क्या जीव उसमें पाषाणखंड की भाँति बहता लुढ़कता और टक्करें खाता ही रहेगा? क्या मानव को इस

---

[1] तिविधे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा, नाण सम्मे, दंसण सम्मे चारित्तसम्मे।
—स्थानांग, स्था० ३, उ० ४, सू० १९४

[2] निब्बाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा, —सूत्रकृतांग, अ० ६, गा०

[3] नाणेन विनान हुंतिचरण गुणा, —उत्तराध्ययन, अ० २८, गा०

संसार में चलना ही है ? उसकी गति का कहीं विराम नहीं है ? कोई आश्रय-स्थल नहीं, कोई मंजिल नहीं ? अगर ऐसा हो और मनुष्य की गति की कहीं और कभी विश्रान्ति न हो, तो फिर मुमुक्षु की साधना का उद्देश्य ही कुछ न होगा। उसका सदाचार, विश्वास और तत्वज्ञान–सब व्यर्थ हो जायेंगे। मगर नहीं। जैनधर्म का कथन है–"अवश्य आत्मा को कर्मों के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होगी। इस क्षणिक जीवन के बदले शाश्वत जीवन का लाभ होगा और संसार के निस्सार एवं दुःख व सुख से ऊपर उठकर अवश्य आत्मा को अनन्त सुखमय मुक्ति का दर्शन होगा। आत्मदर्शन एवं सहजस्वरूप की उपलब्धि ही सम्यक् चारित्र का वह शुभ फल है, जिसे मनुष्य अपने प्राप्य अन्तिम साध्य तथा लक्ष्य को सुनिश्चित रीति से प्राप्त कर लेता है।

जैनतत्वज्ञान की यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि वह जीवन को बुझे दीपक की तरह शून्य में परिणत नहीं करता, किसी विराट् सत्ता में आत्मा का विलीनीकरण करके उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्तहीन बनाकर पाषाण की भाँति जड़ नहीं बनाता। जैनधर्म के अनुसार आत्मा की अन्तिम स्थिति अनन्त सुख-संवेदन से परिपूर्ण और असीम ज्ञान के आलोक से सम्पन्न है। उस स्थिति में आत्मा की दिव्य शक्तियाँ निखर उठती हैं, और वह परम ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त करता है।

उस परमसुखमय मुक्ति का जो राजपथ[१] जैन धर्म ने निर्दिष्ट किया है, वह है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का समन्वय। यह रत्नत्रय ही उस शाश्वत संगीत का आरोह बनता है, जो गायक को सदा के लिए मुक्ति में प्रतिष्ठित कर देता है।

सम्यग्दर्शन

जैनधर्म ज्ञान को साध्य रूप में स्वीकार नहीं करता। ज्ञान का फल विज्ञान अर्थात् हेय-उपादेय का विवेक है, और विज्ञान का फल बुराई को छोड़कर अच्छाई को स्वीकार करना है। ज्ञान का उपयोग श्रद्धा की स्वच्छता के लिए है, और श्रद्धा का अटूट बल जीवन शोधन के लिए है। अतः ज्ञान की यथार्थता पर जितना बल दिया गया है, उतना ही उसकी सच्ची श्रद्धा पर भी दिया गया है।

---

[१] "जीवागच्छन्ति सोग्गइं," —उत्तराध्ययन अ० २८, गा० १–३।

आत्मा[1] पर और साथ ही अन्य तथ्य भावों पर—वस्तुजगत पर सजीव श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन है।

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन[2] को बहुत महत्व दिया गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव में विपुल और सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान भी अज्ञान ही रहता है और उग्र से उग्र अनुष्ठान भी मिथ्यानुष्ठान होता है[3] ज्ञानाभूति के पीछे यदि अटूट विश्वास, जीवित श्रद्धा या दृढ़ प्रतीति न हुई तो ज्ञान कदापि हितावह नहीं हो सकता।

आत्मा की स्वरूपच्युति का प्रधान कारण सम्यग्दर्शन का अभाव है। श्रद्धा के बिना न तो अपने स्वरूप पर, और न अपने स्वाधिकार की मर्यादा पर, दृढ़ प्रतीति होती है, और न संसार के अनन्त-अनन्त जड़-चेतन द्रव्यों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर ही विश्वास होता है। उस अविश्वासी और मिथ्यादर्शी आत्मा की यही भावना रहती है कि समूचा संसार मेरे इशारे पर नाचे, मेरी सत्ता स्वीकार करे और मेरे शासन का कोई भी उल्लंघन न करे। इस विषाक्त दृष्टि से आत्मा को ही भ्रम में नहीं डाल दिया है, वरन् विश्व की शान्ति का भी विध्वंस किया है। दृष्टि की इस विमूढ़ता का कारण तत्व को यथार्थ रूप में न समझना और उस पर विश्वास न करना ही है।

जगत् में जो सत् है, उसका कभी विनाश नहीं होता है, और जो असत् है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जितने भी मौलिक द्रव्य इस लोक में विद्यमान हैं, वे सब अपने अपने मूल स्वरूप में स्थिर रहते हैं। एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं बनता, किन्तु प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादिकालीन पर्याय-धारा में प्रवाहित हो रहा है, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य का रूपान्तर होता है, मगर द्रव्यान्तर नहीं होता।

मूल द्रव्य[4] छह हैं और तत्व नौ[5] हैं। अनेकान्त दृष्टि ही इन द्रव्यों या तत्वों को समझने की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।

---

१. उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० १५

२. उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० ३०

३. उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० २८

४. अनुयोगद्वार सूत्र १४१-१२४।

५. स्थानांग सूत्र, स्था० ९ सूत्र।

वीतराग कथित आगम इन्हें समझने का अभ्रान्त साधन है। इस प्रकार के जीवन्त विश्वास को तत्वश्रद्धा कहते हैं।

तत्वश्रद्धा ही सम्यग्दर्शन[१] है। सम्यग्दर्शन कभी-कभी आन्तरिक शुद्धि से स्वतः प्राप्त हो जाता है, और कभी-कभी सत्संगति से, या परोपदेश से प्राप्त होता है। शास्त्र में इनको क्रमशः निसर्गज और अधिगमज संज्ञा प्रदान की गई है।

सम्यग्दर्शन का विरोधी गुण मिथ्यात्व है। जो श्रद्धा विपरीत है, सत्य-विरुद्ध है, वह मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादर्शन है। देव, गुरु और धर्म के विषय में भ्रमपूर्ण या विपरीत धारणा बनाने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। मनुष्य अज्ञानवश यह समझने में असमर्थ हो जाता है कि आराध्य देव कैसा पावन, पवित्र, सम्पूर्ण ज्ञानमय और सर्वथा निर्विकार होना चाहिए? इस तथ्य को न समझने के कारण वह मिथ्यात्व के चक्कर में फंस जाता है।

शास्त्र के ठीक अभिप्राय को न समझने के कारण अथवा कुशास्त्र के स्वाध्याय से शास्त्रीय मिथ्यात्व आता है।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी होगी कि बहुत कुछ पाठक की दृष्टि पर शास्त्र का सम्यक्-मिथ्यात्व निर्भर करता है। जिसकी दृष्टि निर्मल है, जो सम्यग्दर्शी है, वह मिथ्याश्रुत को भी अनेकान्त पद्धति से संगत बनाकर सम्यक्-श्रुत[२] के रूप में परिणत कर लेता है। इसके विपरीत, भ्रान्त धारणाओं से ग्रस्त मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी विपरीत अभिप्राय ग्रहण कर मिथ्याश्रुत बना डालती है[३]।

असत् गुरु के कारण भी संसार में मिथ्यात्व फैलता है। मनुष्य गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझे बिना ही वेष, चमत्कार, या वाक्कौशल को देखकर किसी को गुरु मान लेता है। इससे वह गुरु के विषय में मिथ्यात्वी रह जाता है।

मनुष्य धर्म के विषय में यथार्थ को समझे बिना, परम्परागत धर्म-विरुद्ध रूढ़ियों को धर्म समझ लेता है। वह उसे कुलाचार, या ऐसा ही कुछ नाम देकर मानता है और मिथ्यात्व का शिकार बनता है।

जैनधर्म का आदेश है कि मनुष्य को इस प्रकार विपर्यय से बचकर और दुराग्रह का परित्याग करके देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

---

[१] तत्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र २। [२] नन्दी सूत्र [३] नन्दी सूत्र।

जो आत्मा प्रकृष्ट साधना के द्वारा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, एवं अनन्तशक्तिशाली बन गया है, जिसने मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह आदि अनेक प्रकार के विकारों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली है, जो शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि कर चुका है, वह सच्चा देव है। वही अर्हन्त परमात्मा कहलाता है। अर्हन्त को देव मानने की श्रद्धा, देव के प्रति सच्ची श्रद्धा कहलाती है।

जिस महात्मा के जीवन में अहिंसा की सुगंध महकती है, जो अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, जो पांच महाव्रतों द्वारा मुक्ति की अनवरत साधना करता है, और जो विश्व के समस्त जीवों का कल्याण चाहता है, वह सच्चा गुरु है।

आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाने वाला, तथा तत्व का यथार्थ ज्ञान कराने वाला वीतराग कथित श्रुत, एवं मुक्ति प्राप्त कराने वाला चारित्र, धर्म माना गया है[1]।

दयामय धर्म और अनेकान्तमय तत्व ही यथार्थ है। अहिंसा ही समग्र सदाचार की कसौटी है। इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन का मूल आधार है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के विचार सुलझे हुए होते हैं। उसमें कदाग्रह तथा मताग्रह नहीं होता। वह सत्य को सर्वोपरि मानता है और सत्य की ही उपासना करता है। विनम्रभाव से वह सत्य के प्रति सर्मपित है। सत्य पर उसकी अविचल आस्था है। दानवी शक्ति भी उसे सत्य से, धर्म या अखण्ड आत्म-विश्वास से विचलित नहीं कर सकती।

सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मस्वरूप की झांकी मिल जाती है। वह अनन्त आत्मिक आनन्द से परिचित हो जाता है। अतएव भौतिक सुख उसे रुचिकर प्रतीति नहीं होते। वह भोग भोगता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने के लिए पांच[2] दोषों से वचना चाहिए :—

१. शंका, वीतराग के वचन पर अविश्वास।

२. कांक्षा, परधर्म को अंगीकार करने की इच्छा।

३. धर्म के फल में संदेह करना या संतों के प्रति ग्लानिभाव रखना।

---

[1] १. ठाणांग सूत्र, ठाणा २, उ० १, सू० ७२।

[2] २. उपासक दशांग अ० १,

४. मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, और
५. मिथ्यादृष्टियों का घनिष्ठ परिचय ।

मुक्ति की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास आरंभ होता है । यह स्वाभाविक है कि जब तक लक्ष्य शुद्ध न हो, और दृष्टि निर्दोष न बन जाय, तब तक मनुष्य की सारी जानकारी और उसके आधार पर किया जाने वाला प्रयास, सफल नहीं होता । इसी के कारण सम्यग्दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है ।

जब अन्तःकरण में सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकाशमान होती है तो अनादिकालीन अन्धकार सहसा विलीन हो जाता है, और समग्र तत्व अपने वास्तविक रूप में उद्‌भासित होने लगते हैं । तभी आत्मा के प्रति प्रगाढ़ रुचि का आविर्भाव होता है, और सांसारिक भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं । यह शुद्ध-दृष्टि के लिए मुक्ति का द्वार खोल देती है ।

सम्यग्दृष्टि जीवन में प्रशम, संवेग, निर्वेद (विरक्ति), अनुकम्पा और आस्तिक्य की पंचपुटी भावना आविर्भूत हो जाती है। वह सब प्रकार की मूढ़ताओं से ऊपर उठ जाता है । और शुद्ध मुक्तिमार्ग को पहचान लेता है ।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

जैसे शरीर अपने अंगोपांगों में समाहित है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी अपने अंगों में समाहितहै । सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, और उनका स्वरूप समझने से सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ में आ जाता है। उन अंगों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. निःशंकित[1] वीतराग और सर्वज्ञ परमात्मा के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। कषाय अथवा अज्ञान के कारण ही मिथ्या भाषण होता है। जो निष्कषाय, वीतराग और सर्वज्ञ होने के कारण पूर्णज्ञानी हैं, उनके वचन सत्य ही होते हैं । इस प्रकार वीतराग वचन पर दृढ़ श्रद्धा होना, निःशंकित अंग है ।

२. निःकांक्षित :—किसी प्रकार के प्रलोभन में पड़कर परमत की अथवा सांसारिक सुखों की अभिलाषा करना, कांक्षा है । कांक्षा न होना, निःकांक्षित धर्म है ।

---

१. "निस्संकीय" —उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ३१

३. निर्विचिकित्सा :—मुनि जन देह में स्थित होकर भी देह सम्बन्धी वासना से अतीत होते हैं। अतएव वे देह का संस्कार नहीं करते। उनके मलिन तन को देखकर ग्लानि न करना एवं धर्म के फल में सन्देह करना, निर्विचिकित्सा अंग है।

४. अमूढ़दृष्टित्व :—सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक विचारणा और प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है, उसने अपने जीवन का जो प्रशस्त लक्ष्य नियत कर लिया है, उसकी ओर आगे बढ़ने में सहायक विचार और व्यवहार को ही वह अपनाता है। किसी का अंधानुकरण वह नहीं करता। सोच विचार कर प्रत्येक कार्य करता है। जिससे संघ को लाभ हो, आत्मा उज्ज्वल हो और दूसरों के समक्ष स्पृहणीय आदर्श खड़ा हो, ऐसी ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अपनी प्रज्ञा को जागृत रखना और प्रमादग्रस्त न होने देना ही अमूढ़दृष्टित्व अंग है।

५. उपवृंहण :—जो गुणी जन हैं, विशिष्ट ज्ञानवान्, संयमी, धर्म-प्रभावक, समाजसेवक अथवा सम्यग्दर्शी हैं, उनकी समुचित सराहना करना, उनके उत्साह की वृद्धि करना, यथाशक्ति सहयोग देना, और उन्हें बढ़ावा देकर अग्रसर करना उपवृंहण अंग है।

६. स्थिरीकरण :—सांसारिक कष्टों में पड़कर, प्रलोभन के वशीभूत होकर, या किसी अन्य प्रकार से वाधित होकर जो सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व से च्युत होने वाला है अथवा चारित्र से भ्रष्ट होने जा रहा है, उसका कष्ट निवारण करके या भ्रष्ट होने के निमित्त हटाकर, पुनः उसे स्थिर करना स्थिरीकरण अंग है।

७. वात्सल्य :—संसार सम्बन्धी नातेदारियों में साधर्मीपन की नातेदारी सर्वोच्च है। अन्यान्य रिश्ते मोह-वर्धक हैं, किन्तु साधर्मीपन का सम्बन्ध अप्रशस्त राग को दूर करने वाला और प्रकाश की ओर ले जाने वाला है। ऐसा समझ कर सहधर्मी के प्रति उसी प्रकार आन्तरिक स्नेह रखना, जैसे गाय अपने बछड़े पर रखती है, वात्सल्य अंग कहलाता है।

८. प्रभावना :—जगत में वीतराग के मार्ग का प्रभाव फैलाना, धर्म सम्बन्धी भ्रम को दूर करना, और धर्म की महत्ता स्थापित करना प्रभावना अंग है।

प्रत्येक व्यक्ति में किसी न किसी प्रकार की विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है। किसी में विद्याबल तो किसी में चारित्रबल, किसी में त्यागबल,

तो किसी में तपोबल, किसी में वाक्शक्ति, तो किसी में लेखन शक्ति होती है। जिसमें जो शक्ति हो उसी के द्वारा धर्मशासन का प्रभाव बढ़ाना सम्यग्दृष्टि अपना कर्त्तव्य मानता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अंगों का भलीभाँति पालन करने वाला पुरुष ही सम्यग्दष्टि के पद का अधिकारी होता है।

* * *

पुरिसा ! तुममेव तुमं-मित्तं, किं बहिया
मित्तमिच्छसी ? पुरिसा ! अत्ताणमेव
अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि।

आ० ३।३ : ११७-८

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यों मित्र की खोज करता है ? हे पुरुष अपनी आत्मा को वश में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुःखों से मुक्त होगा।

न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणु सासणं ।
विसण्ण पाव कम्मेंहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ६, गा० ११ ।

पहावंतं निगिण्हामि सुयरस्सी समाहियं ।
न मे गच्छई उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जई ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २, गा० ५६ ।

हे साधक !

नाना प्रकार की भाषाओं का विज्ञान जीव को दुर्गत में पड़ने से नहीं रोक सकता। जो पाप कर्मों में निमग्न हैं और अपने को पण्डित मानते हैं ऐसे मूर्ख मनुष्यों को भला विद्याओं का शिक्षण कहाँ तक संरक्षण दे सकेगा ?

हे साधक ! सद्ज्ञान वह है जो भागते हुए मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम द्वारा अच्छी प्रकार नियंत्रित कर ले, इससे साधक तेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जा सकेगा, और ठीक मार्ग को ग्रहण कर सकेगा।

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान

१. **स्वरूप :**—जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। वह आत्मा का स्वाभाविक गुण है और इसलिए आत्मा से अभिन्न है। यद्यपि आत्मा और ज्ञान में गुणी-गुण संबंध है, तथापि गुणी और गुण में जैन-दर्शन भेद नहीं मानता। अतएव आत्मा ज्ञानमय है। उस में अनन्त ज्ञानशक्ति स्वभाव से ही विद्यमान है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होने के कारण ज्ञान का पूर्ण प्रकाश नहीं होता। ज्यों-ज्यों आवरण हटता जाता है, ज्ञान प्रकाश बढ़ता जाता है। जब आवरण पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तो आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट हो जाता है।

कोई भी ज्ञान नेत्र की भांति केवल परप्रकाशक नहीं होता, और न स्वप्रकाशक ही[१]। जैनधर्म ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी में एकान्ततः पार्थक्य स्वीकार नहीं करता। आत्मा ज्ञाता तो है ही, अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञान रूप भी है, और स्वयं प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण ज्ञेय भी है। इसी प्रकार ज्ञान वस्तु के बोध में कारण होने से ज्ञान है, और स्वप्रकाश्य होने से ज्ञेय भी है, और कर्तृत्व की विवक्षा से ज्ञान भी है।

---

[१] "स्व पर प्रकाशकं ज्ञानम्", (जैनन्याय तर्क संग्रह)

२. ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता :—यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान और अयथार्थ बोध मिथ्याज्ञान कहलाता है[1]। यथार्थता और अयथार्थता से क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है-लौकिक अर्थात् दार्शनिक दृष्टिकोण से, और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से।

जिस ज्ञान में संशय, विपर्यास अनध्यवसाय न हो, वह ज्ञान दार्शनिक दृष्टिकोण से यथार्थ माना जाता है[2]। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वही ज्ञान यथार्थ हो सकता है जिस के पीछे मिथ्यात्व न हो। मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन, ज्ञान को मिथ्या बना देता है। जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति हो चुकी है, जिसकी दृष्टि शुद्ध हो चुकी है, उसका ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।

इसके विपरीत जो ज्ञान संशय आदि समारोपों से युक्त है, अर्थात् जो संशययुक्त है, सर्प को रस्सी समझने के समान विपरीत बोध रूप है या अनिर्णायक है, वह दार्शनिक दृष्टिकोण से अयथार्थ है, और जिस ज्ञान के पीछे मिथ्यात्व है, दुराग्रह है, दुरभिनिवेश है, आध्यात्मिक जागृति नहीं है, और लक्ष्य की पवित्रता नहीं, वह आध्यात्मिक दृष्टि से अयथार्थ है।

३. ज्ञान के भेद :—ज्ञान सामान्य रूप से एक है, फिर भी उसे विविध प्रकार से भेद-प्रभेद करके समझाने का प्रयत्न किया गया है। ज्ञान की तरतम अवस्थाओं, कारणों एवं विषय आदि के आधार पर यह भेद-प्रभेद किये गये हैं।

मूलतः ज्ञान पांच प्रकार का है :—

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मनः पर्यवज्ञान
५. केवलज्ञान[3]

४. ज्ञान की प्रत्यक्ष परोक्षता :—इन पांच ज्ञानों में से पहले के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, और अन्तिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इतर भारतीय दर्शन साधारणतया इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

१.—२. द्रव्य संग्रह।
२. स्थानांग, सूत्र, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१।
३. नन्दी सूत्र

नेत्रों से रूप को देखना, नासिका से गंध का ज्ञान होना, जिह्वा से रस का, त्वचा से शीतोष्ण आदि स्पर्शों का, और कान से शब्द का ज्ञान होना, उनके मन्तव्य के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु जैनदर्शन इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानता। जैनदर्शन के अनुसार वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान वह है, जो इन्द्रियों और मन की सहायता की अपेक्षा न रख कर साक्षात् आत्मा से ही होता है। हां, लोक व्यवहार के अनुरोध से इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है; किन्तु वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही है, पारमार्थिक नहीं।

५. **मतिज्ञान के भेद** :—मतिज्ञान कारणभेद से दो प्रकार का है—इन्द्रियजन्य और मनोजन्य।[1] चक्षु आदि इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान इन्द्रियजन्य कहलाता है और मन से होने वाला मनोजन्य। मन आन्तरिक कारण है और रूप आदि किसी एक ही विषय आदि को ग्रहण नहीं करता, इस कारण उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। मतिज्ञान सामान्यरूप से एक होने पर भी विषय-भेद से पांच प्रकार का माना गया है[2]।

१. मति, २. स्मृति, ३. संज्ञा, ४. चिन्ता, ५. अभिनिवोध।

मतिः—वह ज्ञान है, जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हो, तथा वर्तमान-विपयक हो।

स्मृति :—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण करना। पूर्वजन्मों का स्मरण इसी के अन्तर्गत है।

संज्ञा :—पूर्वानुभूत और वर्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु में एकत्व या सादृश्य का अनुसंधान करना। इसका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान भी है।

चिन्ता :—भविष्य की विचारणा।

अभिनिवोध :—अनुमान।

६ **ज्ञान का क्रम विकास** :—चेतना जीव का ज्ञानरूप गुण है, और मूल में वह एक है। कहीं विपय के आधार पर और कहीं कारणों के आधार पर, अनेक भेद-प्रभेद करके उसकी मीमांसा की गई है। ज्ञान उत्पन्न होता है तो पहले पहल इतना सामान्य होता है कि वह वस्तु के विशेष धर्मों को नहीं

---

[1] स्थानांगसूत्र स्थान २ उ० १, सू० ७१।

[2] नन्दी सूत्र, मतिज्ञान, गा० ८०, तत्त्वार्थसूत्र, १–१३।

जान सकता। वह सत्ता मात्र का ग्राहक होता है, जिसकी सत्ता को वह ग्रहण करता है, उसके नाम, गुण, क्रिया, जाति आदि विशेष धर्मों के जानने में असमर्थ होता है। उपयोग की यह प्राथमिक अवस्था दर्शन कहलाती है[1]। दर्शन के पश्चात् उपयोग की धारा अग्रसर होती है। उस समय भी अनेक अवस्थाएं होती हैं। उन सूक्ष्म अवस्थाओं का भी जैन-शास्त्रों में दिग्दर्शन कराया गया है। पर यहां अधिक विस्तार में न जाकर चार स्थूल अवस्थाओं का ही वर्णन कर देना पर्याप्त होगा वे चार अवस्थाएँ ये हैं:—

१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय और ४. धारणा[2]

दर्शन में सत्ता नामक महासामान्य (परसामान्य) का बोध हो पाया था, 'कुछ है,' इतनी-सी प्रतीति हुई थी। उसके अनन्तर जब उपयोग ने अपरसामान्य (मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य) को ग्रहण किया और 'यह मनुष्य है,' ऐसी प्रतीति हुई तो वह उपयोग अवग्रह कहलाया। अपरसामान्य को जान लेने के बाद उपयोग का झुकाव विशेष की ओर होता है। वह झुकाव ईहा कहलाता है। ईहा विशेष की विचारणा है। इस विचारणा के पश्चात् जब ज्ञान विशेष का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है तो वह अवाय या अपाय कहलाता है।

अवाय के पश्चात् धारणाज्ञान होता है। उसके तीन रूप हैं:—अविच्युति, वासना और स्मृति। इनके उत्पन्न होने के पश्चात् अवाय ज्ञान जितने काल तक स्थिर रहता है, अर्थात् उपयोग पलटता नहीं है, वह अविच्युति कहलाता है। उपयोग पलट जाने पर पूर्ववर्ती ज्ञान संस्कार का रूप ग्रहण करता है तो वासना कहलाता है। कालान्तर में कोई निमित्त पाकर वासना का पुनः जागृत हो जाना स्मृति है।

इस प्रकार एक ही ज्ञान की धारा क्रम से विकसित होती हुई अनेक नामों से अभिहित होती है। विकास-क्रम के आधार पर ही उसके पूर्वोक्त चार भेद किये गये हैं।

ये चारों ज्ञान पांच इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं। इस प्रकार कारण

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गा० ४३।

[2] नंदीसूत्र २७, तत्त्वार्थसूत्र, १–१५

के आधार पर अवग्रह आदि चारों के छह-छह भेद होते हैं और सब मिलकर चौवीस भेद हो जाते हैं।[1]

यहां एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। मन और पांच इन्द्रियाँ ये ज्ञान के छह साधन दो वर्गों में विभक्त हैं, पहले वर्ग में चक्षु और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं, जो अपने अपने विषय का स्पर्श करके उसे जानती हैं। दूसरे वर्ग में मन और चक्षु-इन्द्रिय हैं, जो अपने विषय को स्पर्श किये विना, दूर से ही जानती हैं।

इस भेद के कारण ज्ञान के क्रम में भी भिन्नता होती है। उस क्रमभेद को मन्दक्रम और पटुक्रम कहते हैं। मन और नेत्र पटुक्रम वाले, और चार इन्द्रियां मन्दक्रम वाली हैं। स्पर्शेन्द्रिय के साथ जब तक वायु का स्पर्श न हो, वह वायु को नहीं जान सकता। जिह्वा के साथ पदार्थ का संयोग होने पर ही रस का ज्ञान होता है। इसी प्रकार गंध के पुद्‌गलों का नासिका के साथ और भाषाद्रव्यों का कर्णेन्द्रिय के साथ स्पर्श होना अनिवार्य है। तभी उनका ज्ञान होता है।

इन्द्रिय और विषय का यह संबंध व्यंजन कहलाता है। अवग्रह ज्ञान का कारण होने से चार प्रकार का यह व्यंजन भी अवग्रह ही कहलाता है। पूर्वोक्त चौबीस भेदों में इन चार भेदों को सम्मिलित कर दिया जाय तो मतिज्ञान के अट्‌ठाईस भेद होते हैं।

७. श्रुत ज्ञान :—सामान्यतः श्रुत का अर्थ है—'सुना हुआ'। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द को सुनकर श्रोता को वाच्य—वाचकभाव संबंध की सहायता से जो शब्दबोध होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान का होना अनिवार्य है। ज्ञान के द्वारा श्रोता को शब्दों का जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है। तदनन्तर उस शब्द के द्वारा शब्द के वाच्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

८. मति-श्रुत का अन्तर :—इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कार्य-कारण का संबंध है। मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि दोनों ज्ञान साथी हैं, परोक्ष हैं, तथापि उनमें भिन्नता है। मतिज्ञान मूक और श्रुतज्ञान मुखर है। मतिज्ञान

---

[1] स्थानांगसूत्र, स्थानांग ६, तत्त्वार्थसूत्र १।१६।

प्राय: वर्तमान विषय का ग्राहक है, जब कि श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयक होता है। उदाहरण की भाषा में यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान यदि दूध है, तो श्रुतज्ञान खीर है। मतिज्ञान सण है तो, श्रुतज्ञान उससे बनी रस्सी है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-मनोजन्य दीर्घकालीन ज्ञानधारा का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान है, और उत्तरकालीन परिपक्व अंश श्रुत ज्ञान है[1]। श्रुतज्ञान अगर अपनी पूर्ण मात्रा में प्राप्त हो जाता है तो मनुष्य श्रुतकेवली कहलाता है।

श्रुत ज्ञान के मूल दो भेद हैं[2] द्रव्यश्रुत और भाव श्रुत। भाव श्रुत ज्ञानात्मक है और द्रव्य श्रुत शब्दात्मक। द्रव्यश्रुत ही आगम कहलाता है।

९. श्रुत का प्रामाण्य :—धर्म के क्षेत्र में आगम की सर्वाधिक महत्ता है। धर्म का धुरा आगम के इर्दगिर्द घूमा करता है। धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि क्रिया, सभ्यता और संस्कृति आगम से अनुप्राणित होती है। अनेक भारतीय दर्शनों की भांति जैनधर्म भी आगम का प्रामाण्य अंगीकार करता है; किन्तु उसके प्रामाण्य की उसने एक विशिष्ट कसौटी अंगीकार की है।

जैनधर्म आगम को अपौरुषेय, अनादिनिधन अथवा ईश्वर द्वारा प्रेषित मान कर छुट्टी नहीं पा लेता। उसका कथन है कि अपौरुषेय या अनादि आगम असंभव है। अतएव वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत आगम ही विश्वसनीय एवं प्रमाणभूत हो सकता है। जैनजगत् के दो महान् दार्शनिक सिद्धसेन और समन्तभद्र ने स्वर में स्वर मिला कर लिखा है—"जो आप्त द्वारा कथित हो, तर्क द्वारा उल्लंघनीय न हो, जिसमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से बाधा न आती हो, वही सच्चा शास्त्र या आगम है।"[3]

यहां पहले ही विशेषण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अपौरुषेय होने के कारण नहीं, वरन् आप्त पुरुष द्वारा प्रमाणित होने के कारण ही आगम को प्रामाणिक माना जाता है, कौन सा आगम आप्तप्रणीत है और कौन सा नहीं? यह निर्णय करने के लिए शेष विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

जैनधर्म के अनुसार अनेकान्त दृष्टि के प्रवर्तक, अखण्ड सत्य के द्रष्टा, केवल ज्ञानी तीर्थङ्कर देव ने समस्त जगत के जीवों की करुणा के लिए प्रवचन-

---

[1] "मई पुव्वं जेण सुअं न मई सुअ पुव्विआ", नन्दिसूत्र २४।

[2] स्थानांग सूत्र, स्था० २।

[3] स्थानांग, स्था० २-७१

प्रसूनों की वृष्टि की है। तीर्थङ्कर के प्रधान शिष्य गणधर देव अपने बुद्धिपट में उन कुसुमों को झेलते हैं और प्रवचन-माला गूँथते हैं। यह प्रवचनमाला जैन परम्परा में आगम-प्रमाण के रूप में स्वीकार की गई है।

जब तर्क थक जाता है, लक्ष्य अस्थिर होकर डगमगाने लगता है और चित्त में चंचलता उत्पन्न हो जाती है, तो आप्तप्रणीत आगम ही मुमुक्षु जनों का एकमात्र आधार बनता है। यह आगम ही द्रव्यश्रुत कहलाता है और द्रव्यश्रुत के सहारे उत्पन्न होने वाला ज्ञान भावश्रुत कहलाता है।

१०. भेद—कर्तृभेद से आगम दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। जिस श्रुत का साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् ने उपदेश दिया और जिसे अगाध मेधा एवं बुद्धि के धारक गणधरों ने शब्द-बद्ध किया, वह अंगप्रविष्ट कहलाता है। अंगप्रविष्ट का शब्दार्थ है–'अंगों में अन्तर्गत' अक्षर-पुरुष के बारह अंग हैं, जिनके नाम ये हैं :—

१. आचारांग २. सूत्रकृत् ३. स्थान ४. समवाय ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातृधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक १२. दृष्टिवाद।[1]

यह बारह अंग समस्त जैनवाङ्मय के मूलाधार हैं। इन्हें 'गणिपिटक' कहा गया है। इन अंगसूत्रों के आधार पर, इनसे अविरुद्ध विभिन्न स्थविरों एवं आचार्यों द्वारा रचित आगम अंगबाह्य कहलाता है। अंगबाह्य आगमों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती; मगर उनकी प्रामाणिकता का आधार अंग शास्त्र ही है।

जैनाचार्यों ने विपुल श्रुत की रचना की है। बारह उपांगसूत्र, चार मूलसूत्र, चार छेदसूत्र, और आवश्यक सूत्र आदि आगम तो हैं ही, इनकी व्याख्या के रूप में भी चूर्णि, निर्युक्ति और टीका आदि का प्रणयन किया गया है, जिसका बहुत बड़ा परिमाण है।

इसके अतिरिक्त भी बहुसंख्यक जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक, और दार्शनिक साहित्य का स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में निर्माण किया है और आगम प्ररूपित संक्षिप्त तत्त्व का हृदयग्राही तर्कसंगत और विशद विवेचन किया है। जैनाचार्यों

---

[1] नन्दीसूत्र ४४।

की बहुत-सी रचनाएँ न केवल भारतीय साहित्य, अपितु विश्व साहित्य के विशाल भंडार की अनमोल मणियाँ हैं।

११ जैनाचार्यों की साहित्य-सेवा:—प्रसंगवश यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि जैनाचार्यों ने साहित्य के किसी भी तत्कालीन प्रचलित अंग को अछूता नहीं छोड़ा है। अध्यात्म, नीति और दर्शन तो उनके प्रधान और प्रिय विषय रहे ही हैं, व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छंद, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र, राजनीति, इतिहास आदि-आदि सभी विषयों पर उन्होंने अपनी कलम चलाई, और भारतीय साहित्य को विपुलता, नूतनता एवं दिव्यता प्रदान की।

लोक-भाषाओं को साहित्यिक रूप में उपस्थित करने की मूल कल्पना जैनाचार्यों की ही देन है। दक्षिण में भी कर्णाटक भाषा के प्राचीन साहित्य में से जैनाचार्यों की कृतियां पृथक कर दी जाएं, तो उसमें कुछ शेप नहीं रह जाता। इस प्रकार भारत की प्राकृत, संस्कृत तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की समृद्धि में जैनों का बहुत बड़ा भाग है।

अवधिज्ञान :—अभी तक जिस मति और श्रुत-ज्ञान का निरूपण किया गया है, वह परोक्ष ज्ञान था; क्योंकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियों और मन पर अवलम्बित थी; यह दोनों ज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में सभी संसारी जीवों को होते ही हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक कोई जीव ऐसा नहीं, जिसे यह प्राप्त न हों। यह बात दूसरी है कि सम्यग्दृष्टि के वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान होते हैं, मगर सामान्य रूप से वह होते अवश्य हैं।

अब जिन प्रत्यक्ष ज्ञानों का स्वरूप दिखलाना है, वे ऐसे नहीं। जहाँ तक मनुष्यों और तीर्थङ्करों का सम्बन्ध है, उन्हें अवधिज्ञान साधना के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वह साधना मौजूदा जन्म की भी हो सकती है, और पूर्वजन्म की भी। आत्मा पुनः पुनः जन्म-मरण कर रहा है। वह जब नवीन जन्म लेता है, तो कोरा नहीं जन्मता, वरन् अपने पूर्वजन्मों के भले-बुरे संस्कारों से अनुप्राणित भी होता है। अतएव जिस आत्मा ने पूर्व जन्म में साधना की है, वह उसके फलस्वरूप वर्तमान जन्म में अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अवधि का अर्थ है 'सीमा' या 'मर्यादा'। जब आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही, साक्षात् आत्मिक शक्ति के द्वारा रूपी पदार्थों को,

मर्यादित रूप में जानने लगता है, तब उसका वह ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।

मानव जाति ईर्षा कर सकती है कि देवयोनि और नरकयोनि के जीवों को जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त रहता है[1]। मगर नरक योनि के जीवों के लिए वह अधिक दुःख का ही कारण बनता है।

मनःपर्यायज्ञान:—मनःपर्याय ज्ञान विशिष्ट साधक को ही प्राप्त होता है[2]। जिसने संयम की उत्कृष्टता प्राप्त की है, जिसका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो चुका है, वही उस ज्ञान का अधिकारी होता है। इस ज्ञान के द्वारा किसी भी समनस्क प्राणी की चित्तवृत्तियों को, मनोभावों को जाना जा सकता है।

संयम की उत्कृष्ट साधना मनुष्य योनि में ही होती है, अतएव यह ज्ञान मनुष्य को ही हो सकता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान-दोनों ही यद्यपि अपूर्ण हैं, तथापि वह असाधारण हैं, उनकी एक बड़ी विशेषता यही है कि उनकी उत्पत्ति न इन्द्रियों से होती है, न मन से। आत्मिक चैतन्यशक्ति ही उनके प्रादुर्भाव का कारण है। (आधुनिक वैज्ञानिक जिसे (Clairvoyance) कहते हैं, उसके साथ कथंचित् अवधिज्ञान की तुलना की जा सकती है। मनःपर्याय ज्ञान टैलीपैथी या (Mind Reading) से मिलता-जुलता है।)

केवल ज्ञान[3]--जैनधर्म ज्ञान की पराकाष्ठा को अनन्त और असीम मानता है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान या केवलज्ञान, ज्ञान की उसी पराकाष्ठा के बोधक हैं।

जिस ज्ञान से त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त वस्तुएं एक साथ जानी जा सकती हैं, वह सर्वोत्तम ज्ञान, केवल ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और परम चिन्मय बन जाता है। मनुष्य की साधना का यह अन्तिम फल है। इस फल की प्राप्ति होने पर आत्मा जीवन-मुक्त हो जाता है, और पूर्ण सिद्ध के सन्निकट पहुँच जाता है।

---

[1] नन्दी सूत्र ७।

[2] स्थानांग सूत्र० स्था० २, उद्देशा० १, सू० ७१।

[3] स्थानांग सू० स्थान ५, उद्देशा ३, सू० ४६३।

विषय अथवा कारण के आधार पर अन्यान्य ज्ञानों के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, किन्तु केवलज्ञान में कोई भेद संभव नहीं, क्योंकि यह परिपूर्ण ज्ञान है, और पूर्णता में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती। उक्त पाँच ज्ञानों में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्याज्ञान भी हो सकते हैं। किन्तु मनःपर्यव, और केवलज्ञान मिथ्यादृष्टि को प्राप्त नहीं होते। अतएव वे सम्यग्ज्ञान ही होते हैं।

विश्व का विश्लेषण

द्रव्य व्यवस्था

१. द्रव्य मीमांसा का उद्देश्यः—द्रव्य अथवा तत्त्व का बोध जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अंग है। श्रमण संस्कृति के तत्त्व निरूपण का उद्देश्य जिज्ञासा-पूर्ति नहीं, चारित्र-लाभ है। इस ज्ञानधारा का उपयोग, साधक आत्मविशुद्धि के लिए और प्रतिबन्धक तत्त्वों के उच्छेद के लिए करता है।

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका साहित्य निगूढ़ वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत करता है। द्रव्य व्यवस्था जैन विज्ञान का विलक्षण आविष्कार है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान जैन विज्ञान के अकाट्य तथ्यों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता जा रहा है। जैन तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान की समताएँ अनेक बार विद्वानों का विस्मय का विषय बन जाती हैं। भौतिक साधनों के सहारे तत्त्वअन्वेषण करने वाले वैज्ञानिकों से आत्मज्ञानी महात्मा कहीं आगे भी बढ़ गये, यही तो आत्म-साक्षात्कार करने वाले दिव्य द्रष्टाओं का चमत्कार है।

किन्तु जहाँ दोनों के तत्त्वनिरूपण में बहुत कुछ साम्य है, वहीं से दोनों के उद्देश्य में बहुत बड़ा वैषम्य भी है। जैन धर्म के अनुसार तत्त्वज्ञान मुक्तिलाभ का एक अनिवार्य साधन है, जब कि विज्ञान का लक्ष्य विज्ञान ही है।

प्रत्येक विचार स्याद्वाद से परिमार्जित हो, और प्रत्येक आचार अहिंसा से परिपूर्त हो तो साधक के मुक्तिलाभ में कुछ विलम्ब नहीं रहता, इसी कारण चारित्र से भी पूर्व तवत्त्ज्ञान को स्थान दिया गया है।

२. द्रव्य क्या है?[१] 'द्रव्य', शब्द 'द्रव' धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ

---

[१] गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, तत्त्वार्थ सूत्र० अ० ५, सू ३८, उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ६।

है कि द्रवित होना, प्रवाहित होना। संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका प्रवाह सतत गति से चलता ही रहता है। इस प्रकार तत्त्व के तीन स्वरूप निश्चित होते हैं–उत्पन्न होना, नष्ट होना, ध्रुव बना रहना।

कुम्भकार खेत में से मिट्टी लाता है, और घड़ा बनाता है। तब घड़े की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका का नाश हो जाता है। मृत्तिका और घट, दोनों अवस्थाओं में विद्यमान सामान्य तत्त्व ध्रौव्य है।

तात्पर्य यह है कि प्रजनन और विनाश की अविरत गतिशील धारा में भी पदार्थ का मूल स्थायी रहता है। इसी ज्ञान को भगवान् महावीर ने मातृका त्रिपदी [1] कहा है। इन तीन अंशों का समन्वय होना ही सत् [2] का लक्षण है। इस असीम और अनन्त विश्व का कण-कण तीनों अंशों से समन्वित है, जिसमें यह तीनों अंश नहीं, ऐसी किसी वस्तु की सत्ता संभव नहीं है।

३. विश्व का मूल: ––तात्त्विक एवं मौलिक दृष्टि से विश्व का विश्लेषण किया जाय तो दो तत्त्व या द्रव्य उपलब्ध होते हैं [3], चेतन और जड़। कतिपय दार्शनिक जगत् के मूल में एक मात्र चैतन्यमय तत्त्व की सत्ता अंगीकार करते हैं तो दूसरे एक मात्र जड़ तत्त्व की। मगर जैनधर्म न अद्वैतवादी है, और न अनात्मवादी। अतएव वह दोनों तत्त्वों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। जड़ तत्त्व में इतनी विविधता और व्यापकता है कि उसे समझने के लिए थोड़े पृथक्करण की आवश्यकता होती है। अतएव उसके पांच विभाग कर दिये गये हैं। जीव के साथ उन पांच प्रकार के अजीवों की गणना करने से सत् पदार्थों की संख्या छह स्थिर होती है। वे यह हैं:––

१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्मास्तिकाय, ४. अधर्मास्तिकाय, ५. आकाश, ६. काल।

सत् का दूसरा नाम द्रव्य है। यह समग्र चराचर लोक इन्हीं षद्द्रव्यों का प्रपंच है। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। द्रव्य नित्य है, अतएव

---

[1] माउयाणुयोगे, उपन्ने वा, विगये वाधुवे वा, स्थानांग, स्था० १०,

[2] सद्द्व्वं वा, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ८, उ० ९ ।

[3] जीवदव्वा य, अजीव दव्वा य, अनुयोग, सू०, १४१

लोक भी नित्य है। उसका किसी भी भौतिक लोकोत्तर शक्ति द्वारा निर्माण नहीं किया गया है। अनेक कारणों से समय-समय पर उसमें परिवर्तन हुआ करते हैं, परन्तु मूल द्रव्यों का न नाश होता है और न उत्पाद ही। इसी कारण जैन-धर्म अनेक मुक्तात्मा (ईश्वरों) की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी उन्हें सृष्टिकर्त्ता नहीं मानता।

जीव, पुद्गल आदि को द्रव्य कहने का कारण, उनका विविध परिणामों से द्रवित होना है। परिणाम या पर्याय के विना द्रव्य नहीं रहता और विना द्रव्य के पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता।

४. पृथक्करण—हम जिसे वस्तु कहते हैं, उसमें तीन अंश विद्यमान होते हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय[1]। वस्तु का नित्य अंश द्रव्य है, सहभावी अंश गुण है, और क्रमभावी अंश पर्याय है। एक उदाहरण द्वारा इन तीनों का स्वरूप समझें—जीव द्रव्य है, उसका सदा विद्यमान रहने वाला ज्ञान चैतन्य-गुण है और मनुष्य पशु, कीट, पतंग आदि दशायें पर्याय हैं। यह तीनों अंश सदैव परस्पर अनुस्यूत रहते हैं, और वस्तु कहलाते हैं।

संक्षेप में द्रव्य वह है जो गुण और पर्याय से युक्त हो, अथवा जो उत्पाद और विनाश से युक्त होकर भी अपने मूल स्वभाव का त्याग न करने के कारण ध्रुव हो।

वस्तुओं में पाई जाने वाली भिन्नता दो प्रकार की होती है—'अन्यत्वरूप' और 'पृथक्त्व रूप'। दूध और दही की भिन्नता अन्यत्व रूप और कागज तथा कलम की भिन्नता पृथक्त्व रूप है। दूध और दही के पर्याय में अन्तर है, मगर मूल द्रव्य-प्रदेशों में नहीं, जब कि कागज और कलम के प्रदेश मूलतः पृथक्-पृथक् हैं। मनुष्य बालक है, युवा है, वृद्ध है। इन दशाओं में अन्यत्व तो है; किन्तु पृथक्त्व नहीं, क्योंकि इन तीन अवस्थाओं में मूलगत मनुष्य एक ही है।

द्रव्य, गुण और पर्याय में भी पृथक्त्व रूप भिन्नता नहीं है। द्रव्य की वह अनादिनिधन शक्तियाँ, जो द्रव्य में व्याप्त होकर वर्तमान रहती हैं, गुण कहलाती हैं, और उत्पन्न-विनष्ट होने वाले विविध परिणाम 'पर्याय' कहलाते हैं। इन दोनों का समूह द्रव्य कहलाता है।

---

[1] उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ६।

उक्त छह द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त पांच द्रव्य अस्तिकाय[१] कहलाते हैं, क्योंकि वे अनेक प्रदेशों के पिण्डरूप हैं। काल द्रव्य प्रदेश-प्रचय रूप न होने के कारण अस्तिकाय नहीं कहलाता।

जीव द्रव्य चेतन और, शेष अचेतन हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त[२] रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है और शेष पांच अमूर्त हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य और सक्रिय-चार द्रव्य क्रियाहीन हैं।[३] समस्त लोक में व्याप्त होने के कारण उनमें गति-क्रिया सम्भव नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश एक-एक अखण्ड पिण्ड हैं,[४] शेष द्रव्य ऐसे नहीं हैं।

५ **जीवद्रव्य:**——जीव का असाधारण गुण, जिसके कारण वह अन्य द्रव्यों से पृथक् सिद्ध होता है, चेतना[५] है। चेतनावान् जीव अनन्त हैं, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् जीव हैं, जीव का अपना कोई आकार नहीं तथापि वह जब जिस शरीर में होता है उसी के आकार का और उसी के बराबर होकर रहता है[६]। एक जीव के असंख्य प्रदेश-अविभक्त अंश होते हैं, और वे प्रकाश की तरह संकोच-विस्तारशील हैं। हाथी मर कर चिऊंटी के पदार्थ में जन्म लेता है, तो प्रदेश स्वभावतः सिकुड़ कर चिऊँटी के शरीर में समा जाते हैं।

[७]ज्ञाता, द्रष्टा, उपयोगमय, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त यह सब जीव के विशेषण हैं। भगवान् महावीर कहते हैं:——"हे गौतम![८] जीव इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह अमूर्त है। अमूर्त होने से वह नित्य भी है।"

"हे गोतम! जीव[९] न लम्बा है, न छोटा, न गोल, न तिकोना, न

---

[१] नन्दी सूत्र, सूत्र ५८।

[२] पोग्गलत्थिकायं, रूविकायं, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ७, उ० १०,

[३] अवट्ठिए निच्चे, नन्दी, सूत्र ५८।

[४] उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८।

[५] उवओगलक्खणे जीवे, भगवती श० २ उ० १०

[६] प्रदेश संहार-विसर्गाभ्यां, प्रदीपवत्, तत्त्वार्थ सूत्र ५, १६ राजप्रश्नीय —सूत्र ७४,

[७] उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ११

[८] उत्तराध्ययन अ० १४, गा० १९,

[९] आचारांग अ० १।

चौकोर, न परिमण्डल, न काला, नीला, पीला, रक्त और न श्वेत है। सुगंध और दुर्गन्ध उसका स्वरूप नहीं, खट्टा मीठा आदि कोई रस उसमें है नहीं। कोमल कठोर आदि सभी स्पर्श उससे दूर हैं। वह उत्पाद और विनाश से परे है, वह स्त्री नहीं, वह पुरुष नहीं, नपुसंक नहीं, वह अरूपी सत्ता है। वह बुद्धि से नहीं, अनुभूति से ग्राह्य होता है। तर्कगम्य नहीं, स्वसंवेदनगम्य है। उसका परिपूर्ण-स्वरूप प्रकट करने में शब्द असमर्थ हैं।"

"हे गौतम! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, सामर्थ्य-उल्लास, और उपयोग जीव के लक्षण हैं।"

"अहम्" (मैं) प्रत्यय से जीव की प्रत्यक्षतः प्रतीति होती है। जीव का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अन्यान्य प्रमाण भी हैं। किन्तु 'अहम्' प्रत्यय सर्वोपरि प्रमाण है।

पहले कहा जा चुका है कि लोक में जीव अनन्त हैं। वे सब स्वभावतः समान शक्तियों के धारक हैं, किन्तु कर्मों एवं आवरणों ने उनमें अनेकरूपता उत्पन्न कर दी है। उसके आधार पर सर्वप्रथम जीव दो भागों में बांटे जा सकते हैं—संसारी और मुक्त। समस्त आवरणों से रहित शुद्ध जीव मुक्त, और आवरणों के कारण अशुद्ध जीव संसारी कहलाता है।

मुक्त जीव सभी प्रकार के बाह्य प्रभाव से रहित होने के कारण समान हैं; परन्तु संसारी जीवों में मुख्यतया कर्मप्रभाव के कारण नाना प्रकार के दृष्टिगोचर होते हैं।। कर्मप्रभाव से जीव अर्ध भौतिक जैसा बन गया है। जानने देखने की अनन्त शक्ति होने पर भी आंख के विना देख नहीं सकता, और कान के विना सुन नहीं सकता।

संसारी [१] जीव दो कक्षाओं में विभक्त हैं—त्रस और स्थावर। जिन्हें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही प्राप्त है, वे स्थावर जीव हैं। जिन्हें दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, वे त्रस कहलाते हैं।

"वौद्ध दर्शन" में बाईस ("बौद्ध धर्म दर्शन" पृष्ठ ३२८, सांख्यदर्शन, तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, भगवती सूत्र, शतक ५, उ०२,) और सांख्य आदि दर्शनों में

---

[१] स्थानांग, स्थान २, उद्देशा १, सू० ५७।

ग्यारह इद्रियां मानी गई हैं, मगर जैनदर्शन पांच इन्द्रियाँ स्वीकार करता है। इनके आधार पर जीव के पांच प्रकार होते हैं।

जिन अभागे जीवों को सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय प्राप्त है, उनमें चैतन्य की मात्रा स्वल्पतम है, अतएव साधारण लोगों ने ही नहीं, अधिकांश तत्त्व-चिन्तकों ने भी उनके जीवत्व को नहीं समझ पाया। उनका जीव विज्ञान-अपूर्ण रह गया है। मगर जैनदर्शन की सर्वंगामिनी दृष्टि ने उन्हें देखा है और उनका अच्छा खासा विवरण भी दिया है। जैनदर्शन के अनुसार तारतम्य होने पर भी एकेन्द्रिय-स्थावर- जीवों में चेतना के सम्पूर्ण विकार उपलब्ध होते हैं। उनमें चैतन्य, सुख-दुःखानुभूति, जन्म, मरण, क्रोध, कषाय, संज्ञा आदि विद्यमान हैं, जिनसे उनके जीवत्व का समर्थन होता है। ऐसे जीव पाँच[1] प्रकार के हैं।

१. **पृथ्वीकाय** :—[2] मृत्तिका, धातु आदि पृथ्वी इनका शरीर है। जब तक पृथ्वी अपने मूल पिण्ड से पृथक् नहीं होती, सजीव है।

२. **अप्काय** :—[3] जल ही जिन जीवों का शरीर है, वे अप्काय के जीव हैं। स्मरण रखना चाहिए कि जल में रहने वाले चलते-फिरते असंख्य जीव अप्काय नहीं हैं। अप्काय के जीव उनसे पृथक् हैं, जिनका शरीर जल ही है।

३. **तेजस्काय** :—[4] अग्नि है। जैसे मनुष्य का शरीर आहार पाकर बढ़ता है और उसके अभाव में क्षीण होता है, उसी प्रकार अग्नि भी आहार पाकर बढ़ती है और उसके अभाव में क्षीण होती है। इससे उसके जीवत्त्व का अनुमान किया जा सकता है।

४. **वायुकाय** :—[5] वायुकाय हवा है। परप्रेरणा के बिना ही तिर्छी गति करना जीव का स्वभाव है, और यह स्वभाव वायु में पाया जाता है।

५. **वनस्पतिकाय** :—[6] वृक्ष, पौधा और लता आदि भी सजीव हैं। जसे

---

१. स्थानांग, स्थानांग ५, उद्देशा १, सू० ३६४।
२. उत्तराध्ययन, अ० १०, गाथा २।
३. आचारांग अ० १
४. " " " "
५. " " " "
६. " " " "

मनुष्य जन्म लेकर बाल, युवा और वृद्ध होता है, वैसे ही वनस्पति भी। उसम मनुष्यों के ही समान शयन, जागरण, भय, लज्जा आदि विकार पाये जाते हैं। जैसे मनुष्य पथ्य आहार से पुष्ट, और अपथ्य आहार से दुर्बल होता है, उसी प्रकार वनस्पति भी होती है। मनुष्य की तरह वनस्पति पर भी विष का प्रभाव होता है। अन्य प्राणियों की तरह वनस्पति भी नियत आयु के बल पर जीती है।

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति का सजीव होना सिद्ध किया है। खेद है कि यह कार्य आगे नहीं बढ़ा, किन्तु एक समय आएगा जब विज्ञान, पृथ्वीकाय, आदि की सजीवता पर भी अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा। इस क्षेत्र में जैन दर्शन अब भी विज्ञान से आगे है।

द्वीन्द्रिय जीव :—[१] जिन्हें स्पर्श और रसेन्द्रिय प्राप्त है–ऐसे द्वीन्द्रिय जीव, शंख, सीप, कृमि आदि हैं।

त्रीन्द्रियजीव :—[२] इन्हें एक घ्राणेन्द्रिय अधिक प्राप्त होती है। खटमल, चिऊँटी आदि इसी कोटि में हैं।

चतुरिन्द्रियजीव :—[३] इन्हें नेत्र भी प्राप्त हैं। मच्छर, मक्खी आदि चार इन्द्रिय वाले हैं।

पंचेन्द्रिय जीव:[४]—मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि पंचेन्द्रिय हैं। इनको पूर्वोक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त श्रवण-इन्द्रिय भी प्राप्त है। यह कई प्रकार के हैं–जलचर, स्थलचर, नभचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प आदि। कोई गर्भज होते हैं, और कोई संमूर्छिम। कोई समनस्क और कोई अमनस्क होते हैं।

पाँचों एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पतिकाय के सिवाय शेष के सात-सात लाख अवान्तर भेद हैं। वनस्पतिकाय के चौवीस लाख भेद हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के दो-दो लाख प्रकार हैं। सब मिलाकर ८४ लाख जीव योनियां हैं[५] इन सब जीवों का विशद वर्णन, आप विभिन्न जैनागमों में पायेंगे।

---

[१] प्रज्ञापना प्रथम पद [२] प्रज्ञापना प्रथम पद [३] प्रज्ञापना प्रथम पद
[४] प्रज्ञापना प्रथम पद।

[५] आधुनिक विज्ञान, धर्म द्रव्य को Ethor or Principle of motion कहते हैं।

६. **अजीवद्रव्य** :—जीवद्रव्य के दिग्दर्शन के पश्चात् अजीवद्रव्य की ओर ध्यान दें। जिसमें जीव के गुण चेतना आदि नहीं हैं, फिर भी जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से सम्पन्न है और जिस में गुणों और पर्यायों की विद्यमानता है, वह अजीव द्रव्य पांच प्रकार का है–धर्म, अधर्म, आकाश; पुद्गल और काल।

धर्मद्रव्य :—[1] यहां धर्म शब्द केवल जैन परम्परा में ही प्रचलित एक पारिभाषिक शब्द है। वह अमूर्त, अक्रिय, अखण्ड और लोकव्यापी द्रव्य है, फिर भी उसमें निरन्तर परिणमन होता रहता है। गतिक्रिया में परिणत जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है, जैसे पानी, मछली की गति में, अथवा लोहे की पटरी, रेल की गति में सहायक होती है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक है। पानी मछली को, और पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नहीं करते, फिर भी पानी के बिना मछली, और पटरी के अभाव में रेल चल नहीं सकती, इसी प्रकार धर्म द्रव्य किसी को गमन करने के लिए बाधित नहीं करता, फिर भी उसके अभाव में गति संभव नहीं है।[2]

अधर्मद्रव्य :—[3] यह द्रव्य धर्म द्रव्य के समान ही है, परन्तु इसका काम जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना है। जैसे ताप के झुलसे हुए मनुष्य में, छाया देख कर विश्राम करने की रुचि स्वयमेव जागृत हो जाती है, अतएव छाया उसकी विश्रान्ति का निमित्त है, उसी प्रकार स्थिति परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्मद्रव्य सहायक है।[4]

यद्यपि गति और स्थिति में जीव और पुद्गल स्वतंत्र हैं, किन्तु इनकी सहायता के विना गति और स्थिति संभव नहीं है।

आकाशद्रव्य :—[5] सब द्रव्यों को स्थान देने वाला द्रव्य आकाश है। यह समस्त वस्तुओं का आधार है और आप ही अपने सहारे टिका है। उसका आधार कोई अन्य द्रव्य नहीं है। यह भी अमूर्त, अक्रिय और अखण्ड है। सर्वव्यापी है। नित्य होने पर भी परिणमनशील है। (वैज्ञानिक आकाश को 'स्पेस'

---

[1] वैज्ञानिक इसे Principle of rest कहते हैं।

[2] आवश्यक सूत्र।

[3] व्याख्या प्रज्ञप्ति श० १३, उद्देशा ४, सू० ४८१।

[4] व्याख्याप्रज्ञप्ति श० १३, उद्देशा ४, सू० ४८१

[5] ” ” ” ” ” ” ”

कहते हैं। कांट और हेगेल आकाश को मानसिक व्यापार अथवा कल्पना मानते थे, किन्तु आइन्स्टीन ने सिद्ध किया है कि आकाश एक सत् पदार्थ है)।

आकाश के जितने भाग में धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त है, वह भाग लोकाकाश या लोक कहलाता है। जो भाग उनसे शून्य है, वह अलोकाकाश है। धर्म-अधर्म द्रव्यों से शून्य होने के कारण अलोकाकाश में जीव और पुद्गल का गमन या अवस्थान भी नहीं होता। अतएव अलोकाकाश, सूना आकाश ही आकाश है। आकाश का लोक-खण्ड परिमित है, और अलोकखण्ड सभी ओर अपरिमित और असीम है।

काल द्रव्य :—[1] कहा जा चुका है कि सभी द्रव्य मूल स्वभाव से नित्य होने पर भी परिणमनशील हैं। यद्यपि अपने-अपने परिणमन में सब द्रव्य आप ही उपादान हैं, तथापि निमित्त कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। अतएव द्रव्यों के परिणाम में भी कोई निमित्त चाहिए। वही निमित्त काल द्रव्य है[2]।

समस्त विश्व, काल की सत्ता के बल पर ही क्षण-क्षण में परिवर्तित हो रहा है। वस्तुएं देखते-देखते नवीन से पुरातन और जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। यह काल का ही प्रभाव है। (फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्गसन ने सिद्ध किया है कि काल एक Dynamic reality है। काल के प्रबल अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है)। काल की सत्ता के अभाव में हम किसी को ज्येष्ठ और किसी को कनिष्ठ किस आधार पर कह सकते हैं?

पुद्गल द्रव्य :—[3] दृश्यात्मक अखिल जगत् पुद्गलमय है। ग्राम, नगर, भवन, वस्त्र, भोजन, विविध प्रकार के प्राणी वर्ग के शरीर आदि-आदि जो भी हमारी दृष्टि में आते हैं, सभी पुद्गल हैं। यद्यपि यह कहा नहीं जा सकता कि जो पुद्गल है, वह सब हमें दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो दृष्टिगोचर है, वह पुद्गल ही है।

चय-अपचय होना और बनना-बिगड़ना-सब पुद्गल के ही रूप हैं। षट्-द्रव्यों में एक मात्र पुद्गल ही मूर्त अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त है।

---

[1] अनुयोगद्वार, द्रव्यगुणपर्यायनाम, सू० १२४, भगवती सू०, श० २५, उद्देशा ५, सू० ७४७।

[2] उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १०।

[3] भगवती सू० श० १३ उद्देशा ४ सू० ४८१।

वर्ण पांच हैं : –[1] कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत ।
गंध दो हैं – सुगन्ध और दुर्गन्ध
रस पांच हैं – कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, और मधुर ।
स्पर्श आठ हैं – कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, सूक्ष्म और स्निग्ध ।

यह सब बीस पुद्गल के असाधारण गुण हैं, जो तारतम्य एवं सम्मिश्रण के कारण संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते हैं ।

शब्द, गंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति, भेद, अंधकार, छाया, चाँदनी और धूप पुद्गल के ही लक्षण हैं[2] ।

पुद्गल के अवस्थाकृत चार भेद[3] हैं :—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । सम्पूर्ण पुद्गल पिण्ड स्कन्ध कहलाता है । स्कन्ध का एक भाग देश कहलाता है । स्कन्ध और देश से जुड़ा हुआ अविभाज्य अंश प्रदेश कहलाता है और वह प्रदेश जब स्कंध या देश से पृथक् हो जाता है तब परमाणु कहलाता है ।

साधारणतया कोई स्कन्ध बादर, और कोई सूक्ष्म होते हैं । बादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य, और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते हैं[4] ।

इन्हें छह भागों में विभक्त किया गया है :—

१. बादर बादर स्कन्ध – जो टूट कर जुड़ न सके, लकड़ी पत्थर ।
२. बादर स्कन्ध – प्रवाही पुद्गल जो टूट कर जुड़ जाते हैं ।
३. सूक्ष्म बादर – जो देखने में स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे – धूप, प्रकाश आदि ।
४. बादर सूक्ष्म – सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गंध, स्पर्श, आदि ।
५. सूक्ष्म – इन्द्रियों से अगोचर स्कंध, यथा-कर्मवर्गणादि
६. सूक्ष्मसूक्ष्म – अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, यथा–कर्मवर्गणा से नीचे के द्व्यणुक पर्यन्त पुद्गल ।

परमाणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम भाग है, जो पुनः विभक्त नहीं हो

---

[1] भगवती सू० श० १२ उद्देशा ४, स० ४५० ।

[2] उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १२ ।

[3] प्रज्ञापना परिणाम पद, १३ सू० १८५ । [4] अनुयोगद्वार

सकता। परमाणु में यद्यपि प्रदेश भेद नहीं है, मगर गुणभेद अवश्य होता है। उसमें एक वर्ण, एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श होते हैं।

आंख का पलक गिराने में जितना समय लगता है, उसके असंख्यातवें अंश को जैनशास्त्र 'समय'[१] की संज्ञा देते हैं। जैसे पुद्गल का सूक्ष्मतम पर्याय परमाणु है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम भाग समय है। परमाणु में अचिन्त्य वेग होता है, वह एक समय में सम्पूर्ण लोक को पार कर लेता है। जैनशास्त्र बतलाते हैं कि[२] परमाणु आग की भयानक लपटों में से गुजर कर भी जलता नहीं, पानी से गलता नहीं, सड़ता नहीं, हवा का उस पर असर होता नहीं, वह अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य है—अविनश्वर है। हां, किसी स्कन्ध में जब मिल जाता है तो उसका परमाणु—पर्याय नहीं रहता, तथापि उसकी सत्ता बनी रहती है। स्कन्ध के पृथक् होने पर वह पुनः परमाणु का रूप ग्रहण कर लेता है।

जैन धर्म का परमाणु विज्ञान अत्यन्त विशद और गम्भीर है। जैन साहित्य में जितना चिन्तन एवं विश्लेषण परमाणु के विषय में उपलब्ध है, उतना विश्वसाहित्य में कहीं अन्यत्र नहीं। कहा जाता है कि आज का युग परमाणु-युग है, किन्तु जैन परमाणु विज्ञान को समझ लेने पर स्पष्ट हो जायेगा कि आज के अणु-वैज्ञानिक वास्तविक अणु तक अभी नहीं पहुंच सके हैं। उसे पाने के लिए अब भी गहरा गोता लगाने की आवश्यकता है। अणुभेद की जो बात आज कही जा रही है, वह वस्तुतः स्कन्ध भेद—पिण्डभेद है। अणु तो अविभाज्य है।

एक अणु का दूसरे अणु के साथ किस प्रकार संयोग अर्थात् बंध होता है? किन विशेषताओं के कारण परमाणु परस्पर बद्ध होते हैं, यह जानने के लिए जैनागमों का अभ्यास करने की आवश्यकता है। (देखिए-भगवती सूत्र, पन्नवणासूत्र, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, आदि)।

शब्द परमाणुजन्य नहीं, स्कन्धजन्य है, दो स्कन्धों के संघर्ष से शब्द की उत्पत्ति होती है। कई भारतीय आचार्य शब्द को अमूर्त्त आकाश का गुण कहते हैं, मगर अमूर्त्त का गुण मूर्त्त नहीं हो सकता। शब्द मूर्त्त है, यह जैन मान्यता आज विज्ञान द्वारा भी समर्थित हो चुकी है। शब्द का कूप आदि में प्रतिध्वनित होना और ग्रामोफोन में बद्ध होना उसके मूर्त्तत्व का प्रमाण है।

पुद्गल का चमत्कार—उपर्युक्त छह द्रव्यों का विस्तार ही यह जगत् है।[३] इसमें इनके अतिरिक्त कोई सातवां द्रव्य नहीं है।

---

[१], अनुयोगद्वार। [२]. स्थानांग स्थान, ३ उद्देशा० ३ सू० ८२

[३]. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८।

तत्त्व-चर्चा

पिछले प्रकरण में द्रव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, वस्तुतः उसी में तत्त्व-चर्चा का समावेश हो जाता है, क्योंकि जैसे मूलद्रव्य जीव और अजीव दो हैं, उसी प्रकार मूल तत्त्व भी यही दो हैं। फिर भी जैनशास्त्रों में द्रव्यों से पृथक् तत्त्व का जो निरूपण किया गया है, उसका विशिष्ट प्रयोजन है।

द्रव्यनिरूपण सृष्टि का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए है, जब कि तत्त्वविवेचन की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है।

साधक को इस विशाल बिश्व की भौगोलिक स्थिति का और उसके अंगभूत पदार्थों का ज्ञान न हो, तो भी वह तत्त्वज्ञान के सहारे मुक्तिसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में कोरे द्रव्य ज्ञान से मुक्तिलाभ होना संभव नहीं है। हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेकतत्त्व विवेचन से ही संभव है। निगंठ नायपुत्त महावीर का यह अमर घोष था कि साधक जब तक स्वरूप को पहचानने की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेता, वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

जैनधर्म ज्ञान के दो भेद कर देता है--प्रयोजनभूत ज्ञान, और अप्रयोजनभूत ज्ञान। मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान ही 'प्रयोजनभूत ज्ञान' है, उसे अपनी मुक्ति के लिए यह जानना अनिवार्य नहीं, कि जगत् कितना विशाल है, और इसके उपादान क्या हैं ? उसे तो यही जानना चाहिए कि आत्मा क्या है। सब आत्माएँ तत्त्वतः समान हैं, तो उनमें वैषम्य क्यों दृष्टिगोचर होता है ? यदि बाह्य उपाधि के कारण वैषम्य आया है, तो वह उपाधि क्या है ? किस प्रकार उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है ? कैसे वह आत्मा को प्रभावित करती है ? कैसे उससे छुटकारा मिल सकता है ? छुटकारा मिलने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति में रहती है ? इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए जैनागमों में तत्त्व का निरूपण किया गया है।

संक्षेप में यह कि द्रव्यनिरूपण का उद्देश्य दार्शनिक एवं लौकिक है, और तत्त्वनिरूपण का उद्देश्य आध्यात्मिक है।

तत्त्व नौ[1] हैं :--१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आस्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८. बंध ९. मोक्ष।

यह जैन धर्म का आध्यात्मिक मन्थन तथा विकास के साधक और

---

[1] १. स्थानांग, स्था० ९, सूत्र, ६६५; उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८, गा० १४।

बाधक तत्त्वों का अपना मौलिक प्रतिपादन है। जैनधर्म इन्हीं तत्वों के आधार पर जीव के उत्थान, पतन, सुख, दुःख और जन्म-मृत्यु आदि की समस्याएँ हल करता है। इन तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१. **जीव**——जीव के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। जीव कहिए या आत्मा, स्वभाव से अमूर्त होने पर भी कर्मबन्ध के कारण मूर्त-सा हो रहा है। प्रत्येक संसारी जीव कर्म से प्रभावित है। कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन और दुःखी बनाता है। आत्मा कर्म उपार्जन करने में स्वतन्त्र, किन्तु भोगने में परतन्त्र है। आत्मा स्वयं ही अपने उत्थान-पतन का निर्माता है[1]। अपने भाग्य का विधाता है। वह न कूटस्थ नित्य है, और न एकान्त क्षणिक ही है, किन्तु अन्य द्रव्यों की भांति परिणामी नित्य है।

२. **अजीव**——अजीव का वर्णन पहले आ गया है। कहा जा चुका है कि जीव कर्मबन्ध के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं। देखना चाहिए कि जीव का कर्म पुद्गलों के साथ क्यों और कैसे सम्बन्ध होता है।

३. **पुण्य**——[2]"पुनाति, पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।"

"जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है, वह पुण्य है।" पुण्य एक प्रकार के शुभ पुद्गल हैं, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना में सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नामकर्म भी पुण्य का फल है। पुण्य, मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

(आचार्य हेमचन्द्र ने कर्मों के लाघव को भी पुण्य माना है) "पुण्यतः—कर्मलाघवलक्षणात् शुभकर्मोदयलक्षणाच्च।"——योगशास्त्र–प्र० ४, श्लो० १०७।

जिन प्रकारों से पुण्योपार्जन होता है, उन्हें नौ[3] भागों में विभक्त किया है:—

---

[1] १. अप्पा कत्ता विकत्ता य, उत्तरा०, अ० २० गा० ३७।

[2] २. स्थानांग, अभयदेव टीका, प्रथम स्थान

[3] २. नवपुण्णे, ठाणांग, ठाणा ९.

१. अन्नपुण्य — भोजन का दान देना।
२. पान पुण्य — पानी का दान देना।
३. लयनपुण्य — निवास के लिए स्थान-दान करना।
४. शयनपुण्य — शय्या, संस्तारक-विछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य — वस्त्र का दान देना।
६. मनःपुण्य — मन के शुभ एवं हितकर विचार।
७. वचनपुण्य — प्रशस्त वाणी का प्रयोग।
८. कायपुण्य — शरीर से सेवा आदि शुभ प्रवृत्ति करना।
९. नमस्कारपुण्य — गुरुजनों एवं गुणी जनों के समक्ष नम्रभाव धारण करना, और प्रकट करना।

पुण्य के भी दो भेद हैं :—१. द्रव्य पुण्य और २. भाव पुण्य।

अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-वृत्तियों से पुण्य का उपार्जन[1] होता है। विश्व, राष्ट्र, समाज, जाति तथा दुखी प्राणियों के दुःखनिवारण करने की भावना, तथा तदनुकूल प्रवृत्ति करने से पुण्य का वन्ध होता है। और इन्हीं सद्गुणों को सम्यक्दृष्टिपूर्वक सम्पादन किया जाय, तो यह धर्म तथा निर्जरा के भी कारण वन जाते हैं।

पाप—जिस विचार, उच्चार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट-प्राप्ति हो, वह पाप कहलाता है। पाप-कर्म आत्मा को मलीन और दुःखमय वनाते हैं। निम्नलिखित अठारह अशुभ आचरणों में सभी पापों का समावेश हो जाता है।

१. प्राणातिपात-हिंसा।
२. मृषावाद-असत्य भाषण।
३. अदत्तादान-चौर्यकर्म।
४. मैथुन-काम-विकार, लैंगिक प्रवृत्ति।
५. परिग्रह-ममत्व, मूर्छा, तृष्णा, संचय।
६. क्रोध-गुस्सा।
७. मान-अहंकार, अभिमान।
८. माया-कपट, छल, षड़यन्त्र, कूटनीति।
९. लोभ-संचय के संरक्षण की वृत्ति।
१०. राग-आसक्ति।
११. द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि।
१२. क्लेश-संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि।

---

[1] भगवती, श० ७, उ० ६, सूत्र २८६।

१३. अभ्याख्यान-दोषारोपण १४. पिशुनता-चुगली
१५. परपरिवाद-परनिंदा। १६. रति-अरति–हर्ष और शोक।
१७. मायामृषा-कपट सहित झूठ। १८. मिथ्यादर्शनशल्य–अयथार्थ श्रद्धा।

आस्रव :—[1] आत्मा में कर्मों का आना और उनके आने का कारण आस्रव कहलाता है। मन, वचन, और काय की वह सब वृत्तियां, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, आस्रव हैं। आस्रव कर्मबन्ध का कारण है।

आत्मा के लोक में आस्रव ही कर्मों का प्रवेशद्वार है। मुमुक्षु-जीव को यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कौन-सी वृत्तियाँ या प्रवृत्तियां हैं, जिनके कारण कर्मों का आगमन होता है? उन्हें जाने बिना निरुद्ध नहीं किया जा सकता, और मुक्तिलाभ भी नहीं लिया जा सकता।

आस्रवजनक वृत्तियों और प्रवृत्तियों की ठीक तरह गणना नहीं हो सकती, तथापि वर्गीकरण करके जैनशास्त्रों में अनेक प्रकार से उनका दिग्दर्शन कराया गया है। मूल में उनकी संख्या पांच है :—

१. मिथ्यात्व – विपरीत श्रद्धा।
२. अविरति – अहिंसा, असत्य आदि।
३. प्रमाद – कुशल अनुष्ठान में अनादर।
४. कषाय – क्रोध, मान, माया, लोभ।
५, योग – मन, वचन और काया का व्यापार।

संवर——[2] मुमुक्षु जीव कर्मों के आस्रव के कारणों को पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियों का अवलम्बन लेता है तो आस्रव रुक जाता है। आस्रव का रुक जाना ही संवर है। उदाहरणार्थ–यथार्थ श्रद्धानिष्ठ बनने पर मिथ्यात्वजन्य आस्रव रुक जाता है, अहिंसा सत्य आदि व्रतों का आचरण करने से अविरति-जन्य आस्रव नहीं होता, अप्रमत्त अवस्था में प्रमादजन्य आस्रव नहीं होता, वीतरागदशा प्राप्त कर लेने पर कषाय-जन्य आस्रव रुक जाता है, और पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेने पर योग-जन्य आस्रव रुक जाता है।

कर्मास्रव का निरोध[3] मन, वचन, काय के अप्रशस्त व्यापार को रोकने

---

[1] समवायांग, समवाय ५।

[2] उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ११।

[3] तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९, सूत्र २, स्थानांगवृत्ति, स्था० १।

से, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने से, क्षमा आदि धर्मों का आचरण करने से, अन्तःकरण में विरक्ति जगाने से, कष्ट-सहिष्णुता और सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करने से होता है।

कोई भी साधक योग-क्रिया को सर्वथा निरुद्ध नहीं कर सकता। उठना, बैठना, खाना-पीना, संभाषण करना आदि जीवन के लिए अनिवार्य है। जैन-शास्त्र इन प्रवृत्तियों की मनाही नहीं करता, परन्तु इन पर अंकुश अवश्य लगाता है, और वह अंकुश है विवेक का। साधक जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिए, उसमें विवेक की आत्मा बोलनी चाहिए, वह समस्त क्रियाएं आस्रव हैं जिनके पीछे अविवेक काम करता है, इसके विपरीत विवेकपूर्ण की जाने वाली क्रियायें धर्म और संवरमय हैं।

निर्जरा:—[१] संवर नवीन आने वाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। नौका में छिद्रों द्वारा पानी आना आस्रव है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना संवर समझिए। मगर जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे धीरे-धीरे उलीचना पड़ेगा[२]। बस, यही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना। पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना निर्जरा तत्त्व है। कर्मनिर्जरा के दो प्रकार हैं—औपक्रमिक और अनौपक्रमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तपःप्रयोग आदि किसी विशिष्ट साधना से, बलात्कर्मों को उदय में लाकर झाड़ देना औपक्रमिक निर्जरा है। अपनी नियम-अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मों का उदय में आना और फल देकर हट जाना अनौपक्रमिक निर्जरा है। इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा है। यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती है। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ़ रहा है; किन्तु साधक संवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर, तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है। वह अन्त में पूर्णरूप से निष्कर्म[३] बन जाता है।

मगर यह साधना सरल नहीं है। इसके लिए सभी पर पदार्थों में

---

[१] स्थानांग, स्था० ५, उ० १, सूत्र ४०९।

[२] जहा महातलागस्स, उत्तराध्ययन, अ० ३०, गा० ५।

[३] उत्तराध्ययन, अ० १३, गा० १६।

अनासक्ति और साथ ही आत्मनिष्ठा अपेक्षित है। ऐसा साधक अपने विराट् चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करना ही अपना एकमात्र ध्येय मानता है। जैनशास्त्र साधक-जीवन की अनासक्ति को यों प्रकट करते हैं:—

'अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं।'

संसार के अन्य पदार्थों की बात तो दूर रही, साधक का अपने शरीर पर भी ममभाव नहीं रहता। वह अन्तःस्थ होकर स्वरूपरमण में ही लीन रहता है। इसी कारण संयमी साधक को अविपाक निर्जरा का अमूल्य तत्त्व प्राप्त होता है, जिसके बल पर वह कोटि-कोटि कर्मों को क्षण भर में फल भोगे बिना ही भस्म कर देता है। अडोल अकम्प साधक जगत् में रहता हुआ भी, जगत् से और देह में रहता हुआ भी देह से ऐसा अलिप्त रहता है जैसे कीचड़, पानी, और आग में पड़ा हुआ सोना अपने स्वरूप में शुद्ध बना रहता है। अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण कर्मसंघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जैन परिभाषा में इसे 'सकाम' निर्जरा कहते हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए भी कर्म भोगे जाते हैं, और फल देने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। वह अकाम निर्जरा है। साधारण संसारी प्राणी अकामनिर्जरा द्वारा ही कर्मों को जीर्ण करते हैं, परन्तु ऐसा करते-करते वे और अधिक नवीन कर्म उपार्जन कर लेते हैं, जिससे उन्हें मुक्ति नहीं मिल पाती।

अभिप्राय यह है कि इच्छापूर्वक समभाव से कष्ट सहना, सकाम निर्जरा, और अनिच्छापूर्वक व्याकुल एवं अशान्तभाव से कष्ट भोगना, अकामनिर्जरा है।

बन्ध :—आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति, कर्मों का मिल जाना, बन्ध कहलाता है। किन वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से कर्मों का आस्रव होता है, यह हम देख चुके हैं, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता कैसे है? आत्मा अरूपी और कर्म पुद्गल रूपी हैं। अरूपी के साथ रूपी का बन्ध किस प्रकार संभव है[1]?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है; तथापि अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण रूपी भी है। मोहग्रस्त

---

[1] स्थानांग, स्थान २, उद्देशा २, प्रज्ञापना पद २३, सू० ५।

संसारी प्राणी ने अब तक कभी अपना अमूर्त्त स्वभाव प्राप्त नहीं किया है, और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी कर्मबद्ध नहीं होता।

खनिज स्वर्ण का मिट्टी के साथ कब संयोग हुआ, नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहल कब कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही कि इनका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

जैसे चिकने पदार्थ पर रजकण आकर चिपक जाते ह, उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म आत्मा से बद्ध हो जाते हैं।

राग-द्वेष, मोह आदि जो विकृत भाव कर्मपुद्गलों के बन्ध में कारण हैं, वे भाव बन्ध हैं, और कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होना द्रव्य बन्ध है।

पुद्गल की अनेक जातियों में एक 'कार्मण' जाति है। इस जाति के पुद्गल सूक्ष्मतर रज के रूप में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जब आत्मा में रागादि विभाव का आविर्भाव होता है, वह पुद्गल वहीं के आत्मप्रदेशों से बद्ध हो जाते हैं, जहाँ वे पहले से मौजूद थे। यही बन्ध का स्वरूप है। बन्ध के समय उन कर्मों में चार बातें नियत होती हैं, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार[1] कहे जाते हैं।

गाय घास खाती है, और अपनी औदर्य यन्त्रप्रणाली द्वारा उसे दूध के रूप में परिणत कर देती है। उस दूध में चार बातें होती हैं :—

१. दूध की प्रकृति (मधुरता) २. कालमर्यादा—दूध के विकृत न होने की एक अवधि। ३. मधुरता की तरमता, जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा कम, और बकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता-होना आदि। ४. दूध का परिमाण सेर, दो सेर आदि।

इसी प्रकार कर्म में एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है। कर्म के स्वभाव असंख्य हैं, फिर भी उन्हें आठ भागों में विभक्त किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण पृथक् परिच्छेद में दिया गया है। स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल अवधि भी निश्चित हो जाती है, जिसे स्थिति बन्ध कहते हैं। फल (रस) देने की तीव्रता अथवा

---

[1] १. समवायांग, समवाय ४।

मन्दता 'अनुभागबन्ध' या 'रस बन्ध' है, और कर्मप्रदेशों का समूह 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है।

इन चार बन्धों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगों की चंचलता पर निर्भर होते हैं, अर्थात् कितने कर्मदल बन्ध, और उनमें किस प्रकार स्वभाव उत्पन्न हो, वह बात मानसिक, वाचिक और कायिक स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार निश्चित होती है। कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहे, और कितना मन्द, मध्यम या उग्र फल प्रदान करे, यह नियति कषाय की तीव्रता-मन्दता पर अवलम्बित है।

मोक्षः—[1] संवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने और निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त हो जाती है। जब कर्म नहीं रहते तो कर्मजनित उपाधियाँ भी नहीं रहतीं, और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही जैनधर्म-सम्मत मोक्ष है।

मुक्त दशा में आत्मा[2] अशरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त चैतन्यघन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आत्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। वह सब प्रकार की क्षुद्रताओं से अतीत, विराट् स्वरूप की उपलब्धि है।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते हैं, जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाता है वह फिर कभी विकारमय नहीं होता। वह आस्रव और बन्ध के कारणों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्त दशा शाश्वतिक है। मुक्तात्मा फिर कभी संसार में अवतीर्ण नहीं होते[3] वह जन्म-मरण से आत्यन्तिक निवृत्त हैं।

आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगतिशील है। जिस प्रकार मृत्तिका से लिप्त तूंबा जल में छोड़ देने पर नीचे की ओर चला जाता है, और ठेठ पैंदे पर जा टिकता है, किन्तु लेप गल जाने पर हल्का होकर पानी की सतह पर आ जाता है, और जैसे अग्निशिखा स्वभावतः ऊर्ध्वगति करती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मलेप से मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करती है।

---

[1] उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ७२।

[2] उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ६७।

[3] दशाश्रुतस्कंध, अ० ५, गा० १३।

मगर लोकाकाश से आगे गति सहायक धर्मद्रव्य नहीं है। अतएव वहाँ उसकी गति का निरोध हो जाता है, और मुक्तात्मा लोकाग्र भाग[1] में ही प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार समस्त औपाधिक भावों से छुटकारा पा लेना, चैतन्यानुभूति की पूर्ण विशुद्धि हो जाना, या आत्मा का परम-आत्मा बन जाना ही मोक्ष है। यही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

संसार-दशा में, आत्मा में ज्ञान और आनन्द के जो विकृत अंश अनुभव में आते हैं, वे आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द नामक गुण के विकार हैं। मुक्त-दशा में वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं, अतएव मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान, और पूर्ण एवं अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

मोक्ष-लाभ ही मानव-जीवन का चरम और परम पुरुषार्थ है। यही समस्त साधनाओं का सार है।

प्रमाण-मीमांसा

जैनशास्त्रों में ज्ञान की मीमांसा के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—आगमिक पद्धति से और तार्किक पद्धति से। आगमिक पद्धति, और तार्किक पद्धति में वस्तुतः कोई मौलिक भेद नहीं है, तथापि दोनों का वर्गीकरण जुदा-जुदा है। आगमिक पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पांच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, और केवल ज्ञान। इनका दिग्दर्शन हम आगे करेंगे। तार्किक पद्धति के अनुसार संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान, प्रमाण कहलाता है। प्रमाण ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया गया है[2]।

१. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. आगम और ४. उपमान।

इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :—

१. प्रत्यक्ष :—[3] विशद ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान में वस्तुगत विशेषताएं प्रचुरता से प्रतीत होती हैं, वह प्रत्यक्ष है। पूर्वोक्त पांच ज्ञानों में से मति ज्ञान

---

[1] उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५७।

[2] पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे, अनुयोगद्वार। प्रमाणद्वारम्।

[3] से किं तं पच्चक्खे ? अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वारम्।

और श्रुत ज्ञान परोक्ष[१] हैं और अन्तिम तीन-अवधि, मनःपर्याय, और केवल ज्ञान-प्रत्यक्ष[२] हैं । प्रत्यक्ष में भी अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान विकल या आंशिक प्रत्यक्ष हैं, और केवल ज्ञान परिपूर्ण होने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुतः परोक्ष हैं, किन्तु लोक-प्रतीति के अनुसार वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाते हैं ।

२. अनुमान :—[३]–[४] अनुमान तर्कशास्त्र का प्राण है । यद्यपि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, तो भी उसका अपना विशिष्ट स्थान है । अनुमान के द्वारा ही हम संसार का अधिकतम व्यवहार चला रहे हैं । अनुमान के आधार पर ही तर्कशास्त्र का विशाल भवन खड़ा हुआ है ।

कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव होता है । अग्नि से ही धूम्र की उत्पत्ति होती है, और अग्नि के अभाव में धूम्र उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार का कार्य-कारण भाव व्याप्ति या अविनाभाव सम्वन्ध कहलाता है । इसका निश्चय तर्क प्रमाण से होता है । अविनाभाव निश्चित हो जाने पर कारण को देखने से कार्य का वोध हो जाता है । वही बोध अनुमान कहलाता है । किसी जगह धूम से उठते हुए गुब्बारे को देखकर अदृष्ट अग्नि की कल्पना स्वतः होती है[५] यही अनुमान ज्ञान है ।

कहीं कोई शब्द सुनाई देता है, तो श्रोता उसी समय निश्चित कर लेता है कि यह शब्द मनुष्य का है अथवा पशु का है । मनुष्यों में भी अमुक मनुष्य का है, और पशुओं में भी अमुक पशुजाति का है । इस प्रकार केवल स्वर से स्वर वाले को जान लेना अनुमान का फल है[६] ।

अनुमान के दो भेद हैं :—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अनुमान-कर्त्ता जब अपनी अनुभूति से स्वयं ही किसी तथ्य (ज्ञेय-साध्य) का हेतु

---

[१] परोक्खे णाणे दुविहे, स्थानांग सूत्र, स्था० २ ।

[२] तिविहे पण्णते, अनुयोगद्वार प्रमाणद्वारम् ।

[३] से किं तं अणुमाणे, अनुयोगद्वार० प्रमाणद्वारम् ।

[४] अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्, मल्लधारीया टीका ।

[५] अग्गिं धूमेणं

[६] संखं सद्देणं

(साधन) द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वह वचनप्रयोग द्वारा किसी अन्य को वही तथ्य समझाता है, तो उसका वह वचन-प्रयोग परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, और परार्थानुमान वचनात्मक है।

परार्थानुमान का शाब्दिक रूप क्या होना चाहिए ? इस विषय को लेकर भारतीय न्यायशास्त्रियों ने बहुत विचार किया है। न्यायदर्शन में परार्थानुमान के पांच अवयव[1] स्वीकार किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :–

१. पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा)।
२. क्योंकि वहां धूम्र है (हेतु)।
३. जहां-जहां धूम्र होता है, वहां–वहां अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे रसोई घर (उदाहरण)।
४. पर्वत में भी धूम्र है (उपनय)।
५. अतएव अग्नि है (निगमन)

जैन तार्किक समझदारों के लिए इनमें से प्रथम के दो अवयवों का प्रयोग ही पर्याप्त मानते हैं। अलबत्ता किसी अबोध व्यक्ति को समझाने के लिए अधिक अवयवों का प्रयोग करना आवश्यक हो तो उनके प्रयोग में कोई हानि नहीं समझते। मगर पांचों अवयवों के प्रयोग को वे अनिवार्य नहीं समझते।

३. आगम प्रमाण :—[2] श्रुतज्ञान के विवेचन में आगम प्रमाण का वर्णन किया जायेगा।

४. उपमान प्रमाण :—[3] प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से अप्रसिद्ध पदार्थ का सम्यक् बोध होना उपमा या उपमान प्रमाण कहलाता है।

'गवय गौ के समान होता है' यह वाक्य जिसने सुन रक्खा है, वह व्यक्ति जब अचानक गौ के सदृश पशु को देखता है, तो पहले सुने हुए उस वाक्य का स्मरण करके झट समझ जाता है, कि यह गवय है। इस प्रकार दर्शन और स्मरण दोनों के निमित्त से होने वाला सदृशता का ज्ञान ही उपमान है।

---

[1] पंचेविह पण्णत्तं।
[2] से किं तं आगमे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्।
[3] से किं तं ओवम्मे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्।

प्रमाणों का यह वर्गीकरण तर्कानुसारी होने पर भी आगमिक है। पश्चाद्वर्त्ती तार्किक आचार्यों ने प्रमाण का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके अनुसार प्रमाण दो प्रकार के हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं:—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, और पारमार्थिक प्रत्यक्ष[1]। परोक्ष प्रमाण पांच प्रकार का है:—

१. स्मृति, २. प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क ४. अनुमान और ५. आगम।

स्मरण रखना चाहिए कि इस वर्गीकरण में भी पूर्वोक्त वर्गीकरण से कोई मौलिक या वस्तुगत पार्थक्य नहीं है। इसमें उपमान प्रमाण को पृथक् स्थान नहीं देकर, प्रत्यभिज्ञान में सम्मिलित कर लिया गया है।

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क उस वर्गीकरण के अनुसार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

नयवाद

१. नय स्वरूप :—विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्व की कसौटी के रूप में प्रमाण को अंगीकार करते हैं। किन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध में एक नयी सूझ देता है। उसकी मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तुतत्त्व को परखने के लिए पर्याप्त नहीं है। वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है। जैनेतर दर्शन नय को स्वीकार न करने के कारण ही एकान्तवाद के समर्थक बन गये हैं, जब कि जैनदर्शन नयवाद को अंगीकार करने से अनेकान्तवादी है।

प्रमाण वस्तु की समग्रता को, उसके अखण्ड एक रूप को विषय करता है। नय उसी वस्तु के अंशों को, उसके खंड-खंड रूपों को जानता है।

किसी भी वस्तु का पूरा और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेषण करना अनिवार्य है। विश्लेषण के बिना उसका परिपूर्ण रूप नहीं जाना जा सकता। तत्त्व का विश्लेषण करना और विश्लिष्ट स्वरूप को समझना नय की उपयोगिता है।

---

[1] १. जैन न्याय तर्क संग्रह (यशोविजय) प्रमाण खण्ड।

नयवाद के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के अविरोध का मूल खोजा जाता है, और उनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारों की मीमांसा है। वह एक ओर विचारों के परिणाम, और कारण का अन्वेषण करते हैं, और दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का बीज खोज कर समन्वय स्थापित करते हैं।

क्या आत्मा-परमात्मा और क्या जड़ पदार्थ, सभी विषयों में परस्पर विरोधी मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। एक जगह विधान है कि आत्मा एक है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्माएं अनन्त-अनन्त हैं। ऐसे विरुद्ध दिखाई देने वाले मन्तव्यों के विषय में नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्माएं अनेक हैं? इस प्रकार के दृष्टिकोणों का अन्वेषण करके उन विचारों की सचाई का आधार खोज निकालना ही नय का काम है, अतएव नय विविध विचारों के समन्वय की पीठिका तैयार करता है। इसलिए नयवाद अपेक्षावाद भी कहलाता है।

जगत के विचारों के आदान-प्रदान का साधन नय है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म-स्वभाव गुण विद्यमान हैं। उनके विषय में अनन्त अभिप्रायों को विषय करने वाले नय भी अनन्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अखण्ड रूप में जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, तो उसी वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। प्रमाण अनेकांश ग्राही है, तो नय एक अंश का ग्राहक है।

२. **नय की सत्यता:**—कहा जा सकता है कि अनेक अंशों में से सिर्फ एक अंश को ग्रहण करने वाला नय मिथ्याज्ञान है। नय यदि मिथ्याज्ञान है तो वह वस्तुतत्त्व के निर्णय का आधार कैसे बन सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि किसी भी नय की यथार्थता इस बात पर अवलम्बित है, कि वह दूसरे नय का विरोधी न हो। उदाहरण के लिए आत्मा को लीजिए। एक नय से आत्मा नित्य है और दूसरे नय से आत्मा अनित्य है। आत्मा का आत्मत्व शाश्वत है, उसका कभी विनाश संभव नहीं है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा शाश्वत होता हुआ भी अनेक रूपों में परिवर्तित होता रहता है। कभी मनुष्य के पर्याय में उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी की योनि में

जन्म लेता है, तो कभी नरक का कीड़ा बन जाता है। इस दृष्टिकोण से आत्मा अनित्य भी है। यहां नित्यताग्राही नय अगर अनित्यताग्राही नय का विरोध न करे, उसके प्रति उपेक्षा रखे और सिर्फ अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन तक ही सीमित रहे तो वह सम्यक्नय कहा जाएगा। इसके विपरीत, जब एक नय अपन दृष्टिकोण के प्रतिपादन के साथ दूसरे नयों के दृष्टिकोण का विरोध करता है तो ऐसा करनेवाला नय मिथ्यानय बन जाता है।

सरल शब्दों में कहना चाहिए-कोई नय तभी तक सच्चा है, जब तक वह दूसरे को झूठा नहीं कहता। जब उसने दूसरे को झूठा कहा तो वह स्वयं झूठा हो गया।

३. नयभेदः—कहा जा चुका है कि एक वस्तु में अनन्त-अनन्त धर्म हैं और उसमें एक एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब धर्म अनन्त हैं तो नय भी अनन्त होने चाहिएं। वास्तव में ऐसा ही है। जगत् में प्रचलित अभिप्राय या वचन-प्रयोग गणना म नहीं आ सकते तो उनको ग्रहण करने वाले नयों की गणना भी सम्भव नहीं। इसीलिए जैनदर्शन कहता है :—

'जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।'

अर्थात्-जितने वचन के पथ हैं, या वस्तु सम्बन्धी अभिप्राय हैं, उतने ही नय के प्रकार हैं।

फिर भी वर्गीकरण के सिद्धान्त का उपयोग किया जाय तो उन समस्त नयों को दो भागों में बांटा जा सकता है[1]।

१. द्रव्यार्थिकनय और २. पर्यायार्थिक नय।

मूल पदार्थ द्रव्य कहलाता है और उसकी विभिन्न और देशों और कालों में होने वाली नाना अवस्थाएं पर्याय कहलाती हैं। समस्त विचारों की प्रवृत्ति या तो द्रव्य के द्वारा या पर्याय के द्वारा होती है, अतएव मूलभूत दो ही हैं।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

---

[1] १. से किं तं णए? सत्तमूलणया पण्णत्ता अनुयोगद्वार नयद्वारम्,

मध्यम रीति से इन दोनों नयों के सात भेद किये गये हैं :—[1]

१. नैगम २. संग्रह ३. व्यवहार ४. ऋजुसूत्र ५. शब्द ६. समभिरूढ़ और ७. एवंभूत।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. नैगम :— निगम अर्थात् लोकरूढ़ि या लौकिक संस्कार से उत्पन्न हुई कल्पना को नैगम नय कहते हैं। जैसे चैत्रशुक्ला त्रयोदशी आने पर कहना-आज महावीर भगवान् का जन्म दिन है। वास्तव में भगवान महावीर का जन्म अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व हुआ था, फिर भी लोकरूढ़ि के अनुसार ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि रास्ता कहीं आता-जाता नहीं, फिर भी लोग कहते हैं --यह रास्ता दिल्ली जाता है। फूटे घड़े में पानी चूता है, मगर दुनिया कहती है, घड़ा चूता है। जिस दृष्टिकोण से ऐसे कथन सही समझे जाते हैं, वह दृष्टिकोण नैगम नय कहलाता है।

२. संग्रहनय—[2] संग्रहनय का अर्थ है अभेद दृष्टि। जड़ और चेतन तत्त्वों की जो धारा समान रूप से प्रवाहित हो रही है, उसी सामान्य तत्त्व को मुख्य करके सत्ताधर्म की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर सब को एक रूप मानने वाला अभिप्राय संग्रहनय कहलाता है।

जड़ और चेतन एक हैं, क्योंकि दोनों में एक ही सत्ता समान रूप से व्याप्त है। सब आत्मा एक हैं, क्योंकि उनकी स्वाभाविक चेतना में कोई विलक्षणता नहीं है। मनुष्य मात्र एक हैं, क्योंकि मनुष्यत्व जाति एक है। इस प्रकार समान धर्म के आधार पर एकत्व की स्थापना करना संग्रहनय है।

स्मरण रखना चाहिए कि जिन वस्तुओं में किसी समान धर्म के आधार पर एकता की कल्पना की गई है, उनमें बहुत से विशिष्ट धर्म भी होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। मगर संग्रह नय उन्हें स्वीकार नहीं करता।

---

[1] से किं तं णए ? सत्तमूलणया पण्णत्ता, स्थानांगसूत्र स्था० ७, सूत्र ५५२।

[2] अनुयोगद्वार, नयद्वार, गा० १३७।

३. व्यवहार नयः—[१] पदार्थों में रहे हुए विशेष अर्थात् भेदकारी धर्मों को प्रधान करके उनमें भेद स्वीकार करने का दृष्टिकोण व्यवहार नय है।

संग्रह नय अभेद की प्रधानता पर चलता है, मगर अभेद से लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। जड़ और चेतन सत्ता की समानता के कारण भले ही एक हों, मगर जड़ में चेतना नहीं है, और चेतन जीव में चेतना है। इस कारण दोनों की भिन्नता भी वास्तविक है। मनुष्यत्व के लिहाज से मनुष्य मात्र एक हैं सही, फिर भी मनुष्य-मनुष्य में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला अन्तर भी वास्तविक है। इस प्रकार पृथक्करण वादी दृष्टिकोण व्यवहारनय है।

लोक-व्यवहार अभेद से नहीं, भेद से चलता है। संग्रहनय की दृष्टि में साड़ी और पगड़ी एक है, मगर साड़ी की जगह पगड़ी, और पगड़ी की जगह साड़ी से काम नहीं चलता, दोनों में भेद है और उस भेद को स्वीकार करना ही व्यवहार नय है।

यह तीन नय साधारणतया द्रव्य को ही प्रधान रूप से ग्रहण करते हैं, अतएव इन्हें द्रव्यार्थिकनय कहा गया है।

४. ऋजुसूत्रनयः—[२] कभी कभी मानवीय बुद्धि भूत और भविष्यत् के स्वप्नों को ठुकरा कर तात्कालिक लाभालाभ को ही लाभालाभ स्वीकार करती है। भूतकालीन वस्तु विनष्ट हो जाने के कारण असत् है, और भविष्यत्कालीन उत्पन्न न होने के कारण असत् है। उनकी कोई उपयोगिता नहीं। वर्तमानकालीन समृद्धि ही वास्तव में समृद्धि है। जो धन नष्ट हो गया, और भविष्य में मिलेगा, वह कोरा स्वप्न है। आज उसकी कोई सत्ता नहीं।

इस प्रकार बुद्धि जब वर्तमान को ही सर्वस्व मानकर चलती है, तो वह वर्तमान विषयक विचार ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

५. शब्दनय :—[३] पूर्वोक्त चार नय वस्तु को प्रधान रख कर विचार करते हैं। अतएव इन्हें अर्थनय कहते हैं। शब्दनय और इससे आगे के समभिरूढ़ तथा एवंभूतनय शब्द सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते हैं। अतः यह तीनों

---

[१] अनुयोगद्वार, नय द्वार, गा० १३७।
[२] ,, ,, ,, ,, ,, १३८।
[३] ,, ,, ,, ,, ,, ,,

शब्दनय कहलाते हैं। शब्दनय पर्यायवाची शब्दों को एकार्थ स्वीकार करता है, मगर उनमें यदि काल, लिंग, कारक, वचन या उपसर्ग की भिन्नता हो तो उन्हें एकार्थक नहीं मानता।

लेखक लिखता है—'अयोध्या नगरी थी।' यद्यपि अयोध्या नगरी लेखक के समय में भी है, फिर भी वह 'है' न लिखकर 'थी' क्यों लिखता है? इस प्रश्न का उत्तर शब्दनय यह देता है कि कालभेद से अयोध्या नगरी में भी भेद हो जाता है। अतएव लेखक के समय को अयोध्या और है तथा जिस समय की घटना वह लिखता है, उस समय की अयोध्या और थी। इसीलिए लेखक 'अयोध्या थी,' ऐसा लिखता है, 'अयोध्या है' नहीं लिखता है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण है।

इसी प्रकार लिंगभेद से भी अर्थभेद हो जाता है यथा, नर और नारी। उपसर्ग का भेद भी अर्थ में भेद उत्पन्न कर देता है। जैसे प्रस्थान-गमन, संस्थान-आकार। अथवा आहार, विहार, प्रसार, परिहार, संहार, नीहार आदि।

इन उदाहरणों के आधार पर कारक और वचन आदि के भेद से वस्तुभेद हो जाने की कल्पना की जा सकती है।

६. समभिरूढ़ नय—[१] यह नय शब्दनय से भी एक कदम आगे बढ़कर सूक्ष्म शाब्दिक चिन्तन करता है। कहता है—अगर काल और लिंग आदि की भिन्नता अर्थभेद उत्पन्न कर सकती है तो व्युत्पत्ति (शब्दों की बनावट) के भेद से भी वस्तुभेद क्यों न माना जाय? अतः समभिरूढ़नय विभिन्न पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक नहीं मानता। इसके मतानुसार सभी कोष मिथ्या ह, क्योंकि एकार्थ बोधक अनेक शब्दों का प्रतिपादन करते हैं। कोष 'राजा' 'नृप' और 'भूप' को एकार्थक बतलाता है, किन्तु इनकी बनावट पर ध्यान दिया जाय तो उनका अर्थभेद स्पष्ट है। राजदण्ड को धारण करने वाला 'राजा।' मनुष्य का पालन करने वाला 'नृप।' पृथ्वी का रक्षण करने वाला 'भूप' कहलाता है। अगर 'नृप' और 'भूप' शब्दों का एक ही अर्थ माना जाय तो मनुष्य और पृथ्वी का अर्थ भी एक हो जाना चाहिए।

वैयाकरणों में 'शब्दभेदात् अर्थभेदः—अर्थभेदात् शब्दभेदः' अर्थात्

---

[१] अनुयोगद्वार, नयद्वारम्, गाथा १३९।

शब्द के भेद से अर्थ में और अर्थ के भेद से शब्द में भेद हो जाता है, यह प्रचलित सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है।

७. एवंभूतनय—[1] यह नय सूक्ष्मतम शाब्दिक विचार हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसका कथन यह है—यदि व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है तो जब व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किसी वस्तु में घटित हो, तभी उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए और जब वह अर्थ घटित न हो तब उस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

एवंभूतनय समस्त शब्दों को क्रियावाचक ही मानता है। संज्ञावाचक गुणवाचक, भाववाचक अथवा अव्यय आदि के नाम से प्रसिद्ध सभी शब्द क्रियावाची ही हैं। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का ही बोध होता है। अतएव जब पदार्थ, जैसी क्रिया कर रहा हो, तब उसी क्रिया के वाचक शब्द से उसे अभिहित किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ—"अध्यापक" का अर्थ है, पढ़ाने की क्रिया करने वाला तो जब कोई व्यक्ति यह क्रिया कर रहा है, तो तभी उसे अध्यापक कहा जा सकता है। जब वह खाता, सोता या चलता है, तब अध्यापन-क्रिया नहीं करता और इस कारण उसे अध्यापक भी नहीं कहा जा सकता। अध्यापन क्रिया न करने पर भी यदि उसे अध्यापक कह दिया जाय तो फिर दुकानदारी या रसोईया को भी अध्यापक कहने में क्या हर्ज़ है?

इस प्रकार एवंभूतनय क्रिया को ही शब्दप्रयोग का नियामक मानता है।

सात नयों के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि नयवाद में अनन्त धर्मों के अखण्ड पिण्ड रूप वस्तु के किसी एक धर्म को प्रधानता देकर कथन किया जाता है। उस समय वस्तु में शेष धर्म विद्यमान तो रहते हैं, मगर वे गौण हो जाते हैं। इस प्रकार सत्य के एक अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही नय है।

नयों द्वारा प्रदर्शित सत्यांश और प्रमाण द्वारा प्रदर्शित अखण्ड सत्य मिलकर ही वस्तु के वास्तविक और सम्पूर्ण स्वरूप के बोधक होते हैं।

जैनागमों में नय सिद्धान्त निरूपण बहुत विस्तार से किया गया है। अनेक ग्रंथ केवल इसी विषय को समझाने के लिए लिखे गये हैं।

---

१. अनुयोगद्वार, नयद्वारम्, गाथा १३९

38450

अनेकान्त

सन्त संस्कृति के प्राणप्रतिष्ठापक और समन्वय सिद्धान्त के प्रणेता श्रमण भगवान् महावीर ने तत्व विचार की एक मौलिक और अतिशय दिव्य पद्धति जगत् को प्रदान की। यही नहीं, उन्होंने वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझाने की एक सापेक्ष भाषा-पद्धति भी दी। उन्होंने वतलाया-"विचार अनेक हैं, और वहुत वार वे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें भी एक सामंजस्य है, अविरोध है, और उसे जो भलीभाँति देख सकता है, वही वास्तव में तत्वदर्शी है।"

परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का आधार वस्तु का अनेकधर्मात्मक होना है[1]। एक मनुष्य जिस रूप में वस्तु को देख रहा है, उसका स्वरूप उतना ही नहीं है। मनुष्य की दृष्टि सीमित है, पर वस्तु का स्वरूप असीम है। प्रत्येक वस्तु विराट् है, और अनन्त-अनन्त अंशों, धर्मों-गुणों और शक्तियों का पिण्ड है। यह अनन्त अंश उसमें सत् रूप से विद्यमान है। यह वस्तु के सहभावी धर्म कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु द्रव्यशक्ति से नित्य होने पर भी पर्याय शवित से क्षण क्षण में परिवर्नंनशील है। यह परिवर्तन (पर्याय) एक दो नहीं, हज़ार लाख भी नहीं, अनन्त हैं, और वे भी वस्त के ही अभिन्न अंश हैं। यह अंश क्रमभावी धर्म कहलाते हैं।

इस प्रकार अनन्त सहभावी धर्मों और अनन्त क्रमभावी पर्यायों का समूह एक वस्तु है। मगर वस्तु का वस्तुत्व इतने में भी समाप्त नहीं होता, वह इससे भी विशाल है।

जैसे सिवके के दो वाजू होते हैं, और दोनों वाजू मिलकर ही पूरा सिक्का वनता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत्ता और असत्ता दोनों अंशों के समुदाय से वना है। अभी जिन धर्मों और पर्यायों का उल्लेख किया गया है, वे सव तो सिर्फ सत्ता–अंश हैं। असत्ता अंश इससे भी विराट् है और वह भी वस्तु का अंग ही है।

किसी भी पदार्थ में इतर पदार्थों की अभाव रूप से पाई जाने वाली वृत्ति, वस्तु का असत्ता अंश है।

---

[1] स्याद्वादमंजरी, कारिका, ५।

स्पष्टता के लिए एक उदाहरण लीजिए। घट आपके सामने है। आप आंखों से घट का रूप और आकार ही देख पाते हैं। मगर घट सिर्फ रूप और आकार मात्र नहीं।

आप घट को ऊंचा उठाएंगे तो आपको उसके कुछ अधिक धर्म प्रतीत होंगे, उसका गुरुत्व मालूम होगा, चिकनापन प्रतीत होगा, और भी कुछ मालूम हो सकता है। मगर घट का यह स्वरूप पूरा नहीं होगा।

घट का पूरा स्वरूप समझने के लिए आप किसी तत्व-ज्ञानी की शरण लीजिए। वह आपको बतलाएगा कि घट में जैसे, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि स्थूल इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले गुण हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों से प्रतीत न होने वाले गुण भी हैं, और ऐसे गुण अनन्त हैं।

अब आपने समझ लिया कि घट में अनन्त गुण विद्यमान हैं। फिर भी क्या एक घट का स्वरूप पूरा हो गया ? तत्वज्ञानी कहेगा—"जी नहीं, अभी तो घट का आधा स्वरूप भी आपने नहीं समझा !" घट इससे भी कहीं विराट् है। यहां तक तो घट में सदैव रहने वाले (सहभावी) गुणों की ही बात हुई। मगर घट में अनन्त धर्म ऐसे भी हैं, जो सदैव विद्यमान नहीं रहते, जो उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं। ऐसे धर्म क्रमभावी धर्म कहलाते हैं। उन्हें पर्याय भी कहते हैं।

अच्छा घट, अनन्त सहभावी धर्मों और अनन्त क्रमभावी धर्मों का पिण्ड है। यह जान लेने पर तो घट का पूरा स्वरूप जान लिया, कहा जा सकता है।

तत्वज्ञानी कहेगा—"नहीं, यह तो घट की एक ही बाजू है। इसे सत्ता की बाजू समझिए, अभी दूसरी असत्ता की बाजू तो अछूती ही रह गई है।"

वह असत्ता की बाजू क्या है ? घट घट है, यह सत्ता की बाजू है, और घट पट नहीं, मुकुट नहीं, शकट नहीं, लकुट नहीं, कट नहीं, घट के सिवाय और कुछ भी नहीं, यह असत्ता की बाजू है। तात्पर्य यह है कि घट में घट से भिन्न जगत के समस्त पदार्थों की असत्ता रूप से जो वृत्ति है, वह भी घट का ही असत्ता रूप स्वभाव है। घटेतर पदार्थ अनन्त हैं, अतएव घट के असत्ता-धर्म भी अनन्त हैं।

इन सद्भाव और अभाव रूप धर्मों को जान लेना ही घट को पूरी तरह जान लेना कहलाता है। यह अनन्त धर्म ज्ञान के बिना नहीं जाने जा सकते। अतएव शास्त्र कहता है "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।" जो एक पदार्थ को जानता है, वह सब को जान लेता है, और जो सब को जानता है, वही एक को जान सकता है।

यद्यपि जगत् में मूलभूत तत्व दो ही हैं। जीव-चेतनात्मक और अजीव-अचेतनात्मक, किन्तु दोनों ही अपने अपने स्वभाव में, गुणों में और पर्यायों में अनन्तता से सम्पन्न हैं।

वात कठिन-सी मालूम होती है, मगर सत्य की आत्मा को पूरी तरह समझ लेना सरल नहीं है। फिर भी मनुष्य की दृष्टि सम्पन्न हो, तो दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं से भी वह बहुत कुछ सीख सकता है।

मिट्टी के एक कण को लीजिए। एक-एक कण में अनन्त-अनन्त स्वभावों का सम्मिश्रण है। उसका एक स्वरूप नहीं, एक आस्वाद नहीं, एक रंग-रूप नहीं। एक फुट वर्गाकार भूखंड में किसान कभी कड़वी तीखी और चरपरी मिर्च बोता है, कभी मधुर ईख बोता है, और कभी संतरे या नींबू का पेड़ लगाता है। यह सभी चीजें मिट्टी के उन कणों में से ही अपना-अपना पोषण, स्वाद, रूप, रंग, सब कुछ प्राप्त करती हैं। मिट्टी एक है। खाने में चाहे मिट्टी का स्वाद मिट्टी जैसा है, किन्तु भिन्न बीजों की शक्ति, उसी मिट्टी में से, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वभावानुकूल अभीष्ट तत्व को खींच लेती है। ऐसी स्थिति में अगर कोई कहता है कि मिट्टी कटुक ही है, तो उसका ऐसा कहना असत् व्याख्यान होगा, और यदि कोई यही गांठ बांध कर बैठ जाय कि मिट्टी में एक ही स्वाद होता है, और एक ही रंग-रूप होता है, तो यह होगी आग्रह की जड़ता। यद्यपि यह कथन तत्व के नाते सापेक्ष सत्य हो सकता है, तथापि गुण और पर्याय के नाते वह मिथ्या ही रहेगा।

यह हुई जड़ पदार्थ की वात। अब एक चेतन पुरुष के विषय में भी विचार कर लीजिए, एक ही पुरुष के कितने नाते होते हैं? वह किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति, श्वसुर, देवर, जेठ, मामा, भागिनेय, दादा और पोता होता है। न जाने कितने सम्बन्धों का अम्बार उस पर लदा है? परिवार के बाहर वह दुकानदार है, ग्राहक है, साहूकार है, देनदार है, गुरु है, शिष्य है, किसी संस्था का मंत्री, कोषाध्यक्ष और सभापति है। न जाने क्या-क्या है? इस प्रकार एक पुरुष अनेक रूपों में हमारे समक्ष आता है। यद्यपि पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। मगर अपेक्षा भेद उस विरोध का मथन कर देता है। अनेकान्त की खूबी ही यह है कि प्रतीत होने वाले विरोध का वह निवारण कर दे।

तो जिस प्रकार एक पुरुष में परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले

पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सत्ता-असत्ता, नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि धर्म भी विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत हैं, और उनमें कुछ भी विरोध नहीं हैं। इस तथ्य को समझ लेना ही अनेकान्तवाद को समझ लेना है।

तत्व की विचारणा और सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि अपनाई जाय तो धार्मिक संघर्ष, दार्शनिक विवाद, पंथों की चौकाबंदी और सम्प्रदायों का कलह, मानव संस्कृति की आत्मा को आघात नहीं पहुंचा सकता। इससे समत्वदर्शन की परम पूत प्रेरणा को वल मिलता है, और मनुष्य-दृष्टि उदार, विशाल और सत्योन्मुखी बनती है।

समाज, नीति, कला और व्यापार के क्षेत्र में और साथ ही घरेलू सम्वन्धों में तो अनेकान्त को स्वीकार करती है। वह एक ऐसी अनिवार्य तत्व व्यवस्था है उसे स्वीकार किये बिना एक डग भी नहीं चला जा सकता। फिर भी विस्मय की बात है कि दार्शनिक जगत् उसे सर्वमान्य नहीं कर सका। दार्शनिकों की इससे बड़ी दूसरी कोई दुर्बलता, और असफलता शायद नहीं हो सकती।

कौन है जो पदार्थों का उपयोग करता हुआ, मिट्टी के नानात्व को स्वीकार न करता हो, एक ही मिट्टी घट, ईंट, प्याला आदि नाना रूपों में हमारे व्यवहारों में आती है। आम अपने जीवन काल में अनेक रूप पलटता रहता है। कभी कच्चा, कभी पक्का, कभी हरा और कभी पीला, कभी कठोर और कभी नरम, कभी खट्टा और कभी मीठा होता है। यह उसकी स्थूल अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था नष्ट होकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति में दीर्घ काल की अपेक्षा होती है। मगर उस बीच के दीर्घ काल में क्या वह आम ज्यों का त्यों वना रहता है। और सहसा हरे से पीला तथा खट्टे से मीठा हो जाता है? नहीं, आम प्रतिक्षण अपनी अवस्थाएं पलटता रहता है। मगर वे क्षण-क्षण पलटने वाली अवस्थाएं इतने सूक्ष्म अन्तर को लिए हुए होती हैं कि हमारी बुद्धि में नहीं आतीं। जब वह अन्तर स्थूल हो जाता है तभी बुद्धि-ग्राह्य बनता है।

इस प्रकार असंख्य क्षणों में असंख्य अवस्था-भेदों को धारण करने वाला आम आखिर तक आम ही वना रहता है।

इस तथ्य को जैनदर्शन यों व्यक्त करता है कि—पदार्थ की मूल सत्ता ही, जो एक होने पर भी अनेक रूप धारण करती है, पदार्थ का मूल रूप है-द्रव्य है, और उसके क्षण-क्षण पलटने वाले रूप पर्याय हैं। उसका निष्कर्ष यह

निकला कि प्रत्येक पदार्थ के दो रूप हैं :—अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग द्रव्य, और बहिरंग रूप पर्याय कहलाता है। पदार्थ का अन्तरंग रूप एक है, नित्य है, अपरिवर्तनशील है, और बहिरंग रूप अनेक, अनित्य और परिवर्तनशील है।

द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मों का समन्वित पिण्ड है। चाहे वह जड़ हो या चेतन, सूक्ष्म हो या स्थूल, उसमें विरोधी धर्मों का अद्‌भुत सामंजस्य है। इसी सामंजस्य पर पदार्थ की सत्ता टिकी है। ऐसी स्थिति में वस्तु के किसी एक ही धर्म को अंगीकार करके और दूसरे धर्मों का परित्याग करके वास्तविक वस्तु स्वरूप को आंकने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है, और अपूर्णता में पूर्णता मानकर सन्तोष कर लेना प्रवंचनामात्र है।

अनेकान्तवादी का दृढ़ विश्वास है कि सत् का कभी नाश नहीं होता, और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। मिट्टी का मूल द्रव्य नवीन बनाया जा सकता है। हां, उसका रूपान्तर स्वतः भी और दूसरों के प्रयोग से भी होता रहता है।

बस यही द्विविधात्मक पदार्थ की स्थिति है, जिसे ऐकान्तिक आग्रह से नहीं समझा जा सकता।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विचार में उठे हुए अनेकविध दृष्टिकोणों को समुचित रूप से समन्वित करने की आवश्यकता होती है। उसी आवश्यकता ने नयवाद की विचार सरणि को प्रस्तुत किया है।

स्याद्वाद

पिछले प्रकरण में अनेकान्तवाद के विषय में विचार किया गया है। पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से वस्तु को समझना और एक ही वस्तु में, विभिन्न दृष्टिकोणों से संगत होने वाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करना अनेकान्तवाद है। साधारण तौर पर अनेकान्त सिद्धान्त ही स्याद्वाद कहलाता है, किन्तु वास्तव में अनेकान्त सिद्धान्त को व्यक्त करने वाली सापेक्ष भाषापद्धति ही स्याद्वाद है।

जब हम मान लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म विद्यमान हैं और उन समस्त धर्मों का अभिन्न समुदाय ही वस्तु है, तो उसे व्यक्त करने के लिए भाषा की भी आवश्यकता होती है। यह अनेकान्त की भाषा ही स्याद्वाद है।[1]

---

[1] स्याद् इत्यव्ययम् अनेकान्त—द्योतकं, ततः स्याद वादः अनेकान्तवादः।
—स्याद्वाद मञ्जरी, मल्लिषेणसूरि।

भाषा शब्दों से बनती है, और शब्द धातुओं से बनते हैं। एक धातु भले ही मोटे तौर पर अनेकार्थक मानी जाती हो, परन्तु एक काल में, और एक ही प्रसंग में, वह अनेक अर्थों का द्योतन नहीं कर सकती, अतएव उससे बना एक शब्द भी एक ही धर्म का बोध कराता है। हमारे पास कोई एक शब्द नहीं, जो एक साथ अनेक धर्मों का प्रतिपादन कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का सापेक्षात्मक भाषा से कथन किया जाय। 'घट है' कह कर हम घट के परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त नहीं कर सकत, क्योंकि इस वाक्य द्वारा घट के केवल अस्तित्व धर्म का ही बोध होता है। घट में अस्तित्व की तरह नास्तित्व आदि जो असंख्य धर्म हैं, उनका इससे बोध नहीं होता। अतएव यह वाक्य घट की अधूरी जानकारी देता है। यही नहीं, घट में जो अस्तित्व है, वह भी सर्वथा सत्य नहीं, किन्तु एक दृष्टिकोण से ही है। यह बात भी इस वाक्य से ध्वनित नहीं होती।

प्रश्न होता है कि एक ही शब्द एक धर्म का बोधक होता है, किन्तु वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसका किसी भी एक शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में दो ही बातें हो सकती हैं—या तो एक वस्तु को पूरी तरह कहने के लिए अनन्त शब्दों का प्रयोग किया जाय, अथवा मौन साधकर बैठा जाय। अनन्त शब्दों का प्रयोग करना संभव नहीं है, और मौन साध लेने से जगत् के सब व्यवहार ठप्प हो जाते हैं। फिर अपने अभिप्राय को प्रकट करने का मार्ग क्या है?

जैन दार्शनिकों ने बहुत विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर दिया हैं। यहाँ संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—स्याद्वादी जब वस्तु का अस्तित्व प्रकट करता है तो वह केवल 'अस्ति' (है) न कह कर 'स्यादस्ति' कहता है। 'अस्ति' के साथ 'स्यात्' जोड़ देने से वस्तु में रहे हुए नास्तित्व आदि का निषेध भी नहीं होता और अस्तित्व का विधान भी हो जाता है।

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दोनों शब्दों के मेल से बना है। 'स्यात्' एक अव्यय है, जिसका अर्थ है—"कथंचित्"—किसी अपेक्षा, अथवा अमुक दृष्टिकोण से। कुछ लोगों को भ्रम है कि 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' है और इस कारण स्याद्वाद संशयवाद है। मगर यह उनका भ्रम है। 'स्याद्वाद' में जो कुछ है, 'निश्चित' है। "यह पिता है अथवा पुत्र है" इस प्रकार अनिर्णीत ज्ञान संशय कहलाता है, मगर "यह व्यक्ति अपने पिता कर्मचन्द की अपेक्षा से

पुत्र है, और अपने पुत्र देवदास की अपेक्षा से पिता है" इस प्रकार सापेक्ष कथन म संशय के लिए कोई अवकाश नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में अपने निज के स्वरूप से सत्ता है तो पर के रूप से असत्ता भी है। 'घट घट है', यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि 'घट पट नहीं है।' यहाँ जैसे घटविषयक अस्तित्व घट का ही स्वरूप है, उसी प्रकार पट विषयक नास्तित्व भी घट का ही स्वरूप है अतएव प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् रूप है।

इसी प्रकार घट न एकान्त रूप से नित्य है, और न एकान्त रूप से अनित्य है। द्रव्य के लिहाज़ से नित्य है, तो पर्याय के लिहाज़ से अनित्य है।[1]

इस प्रकार वस्तु में जितने भी धर्म हैं, सब सापेक्ष हैं। जिस अपेक्षा से जिस धर्म का विधान किया जाता है, उसी अपेक्षा को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इस छोटे-से "स्यात्" अव्यय में अद्भुत चमत्कार भरा है। यह समस्त विरोधियों को नष्ट कर देता है, और हमें सम्पूर्ण सत्य की झांकी दिलाता है।

तात्पर्य यह है कि अनेकान्तात्मक वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को प्रकट करने के लिए "स्यात्" शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

जब हम वस्तु को नित्य कहते हैं तो हमें किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिससे उसमें रही हुई अनित्यता का निषेध न हो जाय। इसी प्रकार जब "अनित्य" कहते हैं तब भी ऐसे शब्द का प्रयोग करना उचित है जिससे नित्यता का विरोध न हो जाय। यही बात अन्य धर्मों—सत्ता, असत्ता, एकत्व, अनेकत्व आदि—का कथन करते समय भी समझनी चाहिए। संस्कृत भाषा में ऐसा शब्द "स्यात्" है। "कथंचित्" शब्द का भी उसके स्थान पर प्रयोग होता है।

किसी भी प्रश्न का उत्तर "हां" या "ना" में दिया जाता है। इन्हीं दोनों के आधार पर सप्तभंगी योजना हुई है। वह सात भंग यह हैं:—

१. अस्ति—(है)

---

१. नत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए॥
—सूत्रकृतांग, अ० २, ५, १२, १३।

२. नास्ति–(नहीं है)
३. अस्तिनास्ति–(है, नहीं है)
४. अवक्तव्य–(नहीं कहा जा सकता)
५. अस्ति अवक्तव्य–(है, नहीं कहा जा सकता)
६. नास्ति अवक्तव्य–(–नहीं है, नहीं कहा जा सकता)
७. अस्ति, नास्ति अववतव्य–(–नहीं है, अवक्तव्य है)

१. **स्यादस्तिः**—प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल, और अपने भाव से है।

२. **स्यान्नास्तिः**—प्रत्येक वस्तु पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नहीं है।

इन दोनों भंगों का आशय यह है कि घट (और समस्त पदार्थ) हैं तो, अवश्य; परन्तु वह घट मिट्टी द्रव्य की अपेक्षा से है, जिस जगह है उसी जगह है, जिस काल में है, उसी काल की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप से है। वह घट परद्रव्य से नहीं है[1] अर्थात् वह सुवर्ण द्रव्य की अपेक्षा नहीं है—सोने का नहीं है, जहां है उसके सिवाय दूसरी जगह नहीं है, जिस काल में हैं, उससे भिन्न काल में नहीं है, और जिस रूप में है, उससे भिन्न रूप में नहीं है।

यह दो भंग ही अगले पांचों भंगों के आधार हैं। इन्हीं के सम्मिश्रण से उनका निर्माण हुआ है।

३. **स्यात्, अस्तिनास्तिः**—इस भंग के द्वारा वस्तु का उभयमुखी कथन किया जाता है, अर्थात् यह प्रकट किया जाता है कि वस्तु क्या है, और क्या नहीं है ? प्रथम भंग केवल अस्तित्व का और दूसरा भंग केवल नास्तित्व का विधान करता है, जब कि यह भंग दोनों का विधान करता है।

४. **स्यात्, अवक्तव्यः**—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने से सदा अवक्तव्य है। उसका परिपूर्ण स्वरूप किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं जो अनन्त धर्मों का कथन कर सके।

---

[1] अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया। भगवती, श० १२, उ० १०, पा० १०।

यही नहीं, पहले और दूसरे भंग में जिन अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया है, उनका भी एक साथ कथन नहीं हो सकता। यही बतलाने के लिए चौथा भंग है।

५. अस्ति, अवक्तव्यः—स्वरूप से सत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप से अवक्तव्य है।

६. नास्ति अवक्तव्यः—पर रूप से असत् होते हुए भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

७. अस्तिनास्ति, अवक्तव्यः—स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

इस विषय को व्यावहारिक पद्धति से समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण दिया जाता है। आप किसी रोगी की हालत पूछने के लिए गए। आपने पूछा "रोगी का क्या हाल है?" इस प्रश्न का उत्तर सात विकल्पों (भंगों) में यों दिया जा सकता है :—

१. स्वास्थ्य ठीक है (अस्ति)।

२. अभी अवस्था ठीक नहीं (नास्ति)।

३. कल से अब ठीक है, तो भी भय से मुक्त नहीं (अस्तिनास्ति)।

४. कुछ कहा नहीं जा सकता कि हालत ठीक है, या नहीं (अवक्तव्य)।

५. हालत कुछ ठीक है; परन्तु कहा नहीं जा सकता कि आखिर क्या होगा? (अस्ति अवक्तव्य)।

६. हालत ठीक नहीं, नहीं कहा जा सकता कि आखिर क्या होगा (नास्ति अवक्तव्य)।

७. हालत कल से ठीक है, फिर भी ठीक नहीं कही जा सकती। नहीं कह सकते आखिर क्या होगा? (अस्तिनास्ति अवक्तव्य)।

इस प्रकार वस्तु में रहे हुए प्रत्येक धर्म का सात प्रकार से कथन हो सकता है। जैसे अस्तित्व धर्म के सात भंग ऊपर बतलाए गए हैं, उसी प्रकार नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों को लेकर भी होते हैं। पूर्वोक्त रीति से उन्हें समझा जा सकता है।

विश्व की विचारधाराएं एकान्त के कीचड़ में फंसी हैं। कोई वस्तु को एकान्त नित्य मानकर चल पड़ा है तो दूसरा एकान्त अनित्यता का समर्थन

कर रहा है। कोई इससे आगे बढ़ा भी तो उसने वस्तु के नित्यानित्य स्वरूप को गड़बड़झाला समझ कर अव्याकृत या अवक्तव्य कह कर पिण्ड छुड़ा लिया फिर भी इन सब ने अपने मन्तव्य की पूर्ण सत्यता पर वल दिया, यही संघर्ष का कारण वना।

जैन दर्शन अनेकान्त के रूप में तत्वज्ञान की यथार्थ दृष्टि प्रदान कर एक ओर सत्य का दिग्दर्शन करता है, तो दूसरी ओर दार्शनिक जगत् में समन्वय के लिए सुन्दर आधार तैयार करता है।

स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है और उसके प्रत्येक विधान में स्याद्वाद का पुट रहता है[1] सूत्रकृतांग सूत्र में निर्देश किया गया है कि साधु को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन लेना चाहिए। भगवान् महावीर ने चौदह प्रश्नों के उत्तर, जिन्हें बुद्ध "अव्याकृत" कहते थे, और उपनिषदों के रहस्यपूर्ण गूढ़प्रश्नों के उत्तर, स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन करके दिये हैं।

भाषा नीति-निक्षेप विधान

जगत् के व्यवहार और ज्ञान के आदान-प्रदान का मुख्य साधन भाषा है। भाषा के बिना मनुष्यों का व्यवहार नहीं चल सकता और न विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है। मनुष्य के पास अगर व्यक्त भाषा का साधन न होता तो उसे आज जो सभ्यता, संस्कृति और तत्वज्ञान की अमूल्य निधि प्राप्त हुई है, उसकी कल्पना करना भी अशक्य होता व मनुष्य और पशु में अधिक अन्तर न रह जाता।

भाषा केवल बोलने का ही साधन नहीं, अपितु विचार करने का भी माध्यम है। जन्मगत परिपुष्ट भाषा, जो हमारे अन्तःकरण में सुदृढ़ता से स्थित हो जाती है, उसी में हम चिन्तन-मनन करते हैं।

भाषा का शरीर वाक्यों से निर्मित होता है और वाक्य शब्दों से। प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। प्रत्येक स्थान पर प्रयुक्त हुआ शब्द, प्रसंग, आशय, विषय, स्थान, अवसर और वातावरण के अनुसार कितने ही प्रकार के अभिप्रायों को अभिव्यक्त करता है। अतएव शब्द के मूल और उचित अर्थ

---

[1] स्याद्वाद मंजरी, कारिका, ५।

को जानने के ढंग जैनागमों में निश्चित किये गये हैं। शब्दों की मार्मिकता, लाक्षणिकता, प्रांजलता और अभिव्यंजनाशक्ति का विस्तृत विवेचन व्याकरण और साहित्य विषयक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

शब्द द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का ठीक तरह कैसे ज्ञान किया जाय, इसके लिए जैनधर्म में निक्षेप का विधान किया गया है। निक्षेप का सामान्य अर्थ है—निक्षेपण करना, या रखना। भगवान् महावीर कहते हैं कि शब्द के विवक्षित अर्थ को जानने के लिए अनेकों प्रकार के निक्षेपों का विधान हो सकता हैं, किन्तु कम-से-कम चार निक्षेपों से काम चल सकता है, क्योंकि, प्रत्येक शब्द कम-से-कम चार अर्थों में तो प्रयुक्त होता ही है।

वक्ता या लेखक, शब्द को प्रायः चार प्रकार के अर्थों के लिए प्रयुक्त करता है—नाम, स्थापना, द्रव्य अथवा भाव[1]। इन चार अर्थों में से शब्द को वक्ता द्वारा विवक्षित अर्थों में निक्षेपण करना ही निक्षेप कहलाता है। भाषा के प्रत्येक शब्द पर उन्हें घटित किया जा सकता है यहां "राजा" शब्द को ही लीजिए।

१. नामनिक्षेपः—माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम "राजा" रख दिया। वास्तव में वह राज्य का उपभोग नहीं करता, यहां तक कि राजतंत्र का विरोधी है, उसमें राजा के योग्य गुण भी नहीं हैं, फिर भी वह राजा कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को जब राजा कहा जाता है तो वह नाम निक्षेप से राजा कहलाता है।

नामनिक्षेप में वस्तु के गुण-धर्म का विचार नहीं किया जाता, केवल लोकव्यवहार की सुविधा के लिए शब्द रूढ़ कर लिया जाता है। इस कारण "राजा" नाम वाला पुरुष राजा शब्द के पर्यायवाचक नृपति, भूपति, नरेश आदि शब्दों द्वारा अभिहित नहीं किया जाता।

नाम-शब्द तीन प्रकार के होते हैं:—

१. यथार्थ नाम, जैसे जल में उत्पन्न होने के कारण 'जलज' चैतन्यवान होने के कारण 'चेतन' आदि नाम।

२. अयथार्थ—जैसे अन्धे का नाम नयन सुख अथवा हीराचन्द, मोतीचन्द आदि।

---

[1] अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र ८, तत्वार्थसूत्र अ० १, ५,

३. अर्थ शून्य नाम, जैसे वाद्यध्वनि, खांसी, छींक आदि ।

२. **स्थापनानिक्षेप**—किसी वस्तु म अन्य वस्तु का आरोप करना स्थापनानिक्षेप है । जैसे—राजा की मूर्ति या उसका चित्र भी राजा कहलाता है । यद्यपि उस मूर्ति या चित्र में राजा का कोई गुण नहीं है, तथापि उसमें राजा का आरोप किया जाता है जब कोई राजा की मूर्ति को राजा कहता है तो समझना चाहिए कि वह स्थापना निक्षेप है ।

स्थापनानिक्षेप के लिए प्राचीन युग में काष्ठ, मृत्तिका, वस्त्र, प्रस्तर पत्र आदि पर चित्र बना कर अथवा अन्य प्रकार से किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता था । आज भी मूर्ति या स्टैचु आदि बनाये जाते हैं ।

३. **द्रव्यनिक्षेपः**—जो पहले राजा था, अथवा भविष्य में राजा बनने वाला है, वर्तमान में नहीं है, उसे भी राजा शब्द से व्यवहृत किया जाता है । इस प्रकार भूतकालीन या भविष्यत्कालीन पर्याय का वर्तमान में आरोप करना द्रव्यनिक्षेप कहलाता है ।

४. **भावनिक्षेपः**—जो मनुष्य राज्य कर रहा है, वह भी राजा कहलाता है । इस प्रकार वर्तमान पर्याय को लक्ष्य में रखकर जब शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसे भावनिक्षेप कहते हैं । जब व्युत्पत्तिनिमित्त अथवा प्रवृत्ति-निमित्त से वर्तमान में पूरा अर्थ घटित होता है, तभी वह भावनिक्षेप कहा जा सकता है ।

अप्रकृत अप्रस्तुत और अविवक्षित अर्थ का निराकरण करके प्रकृत प्रस्तुत, और विवक्षित अर्थ का विधान करना निक्षेपविधि का प्रयोजन है ।

जहां कहीं, "महावीर" शब्द आया कि आप भगवान् महावीर को ही समझ लें तो बहुत बार अनर्थ होने की सम्भावना है । इस अनर्थ से बचने के लिए अगर आप निक्षेपविधि से "महावीर" शब्द का विश्लेषण कर डालें, और समझ लें कि वक्ता का नाम—महावीर, स्थापना-महावीर, द्रव्य महावीर, और भाव महावीर में से किस महावीर से अभिप्राय है, तो आप सही अभिप्राय समझ सकेंगे, और अनर्थ से बच जाएंगे । इसी उद्देश्य से जैन शास्त्रों में निक्षेपों का विधान किया गया है ।

स्मरण रहे कि चारों निक्षेपों में से भावनिक्षेप को ही महत्वपूर्ण एवं सार्थक स्वीकार किया गया है ।

एगप्प अजिए सत्तू कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्ता जहा नायं, विहरामि अहं मुणी ।।
मनो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म सिक्खाइ कन्थगं ।।

—उत्तराध्ययन अ० २३, गा० ३८-५८ ।

हे महा मुने ! मन एक दुर्जय शत्रु है, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय तथा श्रोत, चक्षु, प्राण, रस और स्पर्श ये पाञ्चों इन्द्रियां मिलकर दस शत्रु बनते हैं। इन्हें मैंने ठीक रूप से जीत लिया है अतः आनन्द में विचरता हूँ ।

हे साधक ! मन बहुत ही साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है, जो चारों ओर दौड़ता है । मैं इस अश्व को धर्म शिक्षा द्वारा अच्छी तरह कावू करता हूँ ।

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान

इन्द्रियां

प्राणी काम और भोग का आयतन है। काम मूर्त और अरूपी हैं, किन्तु भोग, रूपी और अरूपी दोनों प्रकार का होता है। काम, कामना और स्पृहा का अस्तित्व जीव में ही उपलब्ध होता है। जड़ से जीव की भिन्नता काम से भी पाई जाती है; क्योंकि काम का अस्तित्व जीव में ही है, अजीव में नहीं होता। जीव ही कामी और भोगी बन सकता है, अजीव नहीं। काम के दो रूप हैं, रूप और शब्द। मनोज्ञ रूप और मधुर शब्दों की लालसा ही काम है। यद्यपि रूप और शब्द दोनों ही पौद्गलिक परिवर्तित पर्याय हैं, और भोग तीन प्रकार का होता है। १. गंध, २. रस, ३. स्पर्श।

काम और भोग में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भोग संयोग की अपेक्षा रखता है। गंध, रस और स्पर्श के संयोग हुए बिना भोग का कारण नहीं बन सकते, किन्तु रूप और शब्द में संयोग की अधिक अपेक्षा नहीं रहती। यद्यपि शास्त्रकारों ने शब्द को भी भोग के अन्दर ही गिना है, क्योंकि शब्दों का संयोग कर्णेन्द्रिय के साथ हुए बिना शब्द का आनन्द नहीं लिया जा सकता, किन्तु सूक्ष्मता के कारण उसे काम में भी गिन लिया जाता है। हां, पांचों इन्द्रियों में से नेत्र इन्द्रिय को कुछ भिन्न प्रकार का माना गया है; क्योंकि नेत्र वस्तु के संसर्ग

की अपेक्षा प्रकाश तथा रंग के सहारे ही वस्तु-दर्शन की ज्ञानानुभूति कर लेती है।

काम भोग केवल पाँच ही प्रकार का है, अतः इन्ह ही पाँच इन्द्रियां कहा जाता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय रूप से इन्द्रियों के दश भेद माने गए हैं, और बौद्ध साहित्य में इन्द्रियों के २२ भेद गिनाए गए हैं, किन्तु जैन धर्म इन सभी प्रकार के इन्द्रिय भेदों का पाँचों इन्द्रियों में समावेश कर देता है। जैसे कि पाँचों कर्मेन्द्रियों को, (वाक्, पाणि, पाद पायु और उपस्थ) स्पर्शेन्द्रिय का ही अवान्तर भेद मान लिया गया है, क्योंकि इन का मूलाधार त्वग् इन्द्रिय माना गया है। त्वचा ज्ञान तन्तु अर्थात् छोटे-छोटे छिद्र स्पर्श का संवेदन करते हैं, और छिद्रों तथा रोम कूपों के द्वारा त्वचा के ज्ञान तन्तु वस्तु के स्पर्श का अनुभव कर लेते ह। अतः वाक-पाणि आदि शरीर के अवयवों को पृथक् इन्द्रिय मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इन्द्रियों का द्रव्यरूप मूर्त है, और आत्मा सर्वथा अमूर्त।

अमूर्त होने के कारण हमें आत्मा की साक्षात् उपलब्धि नहीं होती। फिर भी जिन साधनों से हम आत्मा को जानते हैं, वही साधन 'इन्द्रियाँ' हैं। एक शरीर को देखते ही हम पहचान लेते हैं कि यह निर्जीव है, और दूसरे पर दृष्टि पड़ते ही हमें ज्ञान हो जाता है कि यह सजीव है। निर्जीव कलेवर में भी इन्द्रियाँ बनी होती हैं, मगर वे अपना कार्य नहीं करतीं, जब कि सजीव शरीर में सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। कान सुनते हैं, आँख देखती हैं, नाक सूँघती है, हाथ-पैर हिलते हैं। इन्द्रियों का यह व्यापार आत्मा के अस्तित्व का परिचायक है।

इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व की परिचायक नहीं, आत्मा के द्वारा होने वाले संवेदन का साधन भी हैं। यद्यपि आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान दर्शनपुंज है, तथापि आवरणों के कारण इतना निर्बल बन गया है कि उसे इन्द्रियों का अवलम्बन लेना पड़ता है। अतएव आत्मा की रूपादिविषयक उपलब्धि का साधन भी इन्द्रियाँ ही हैं।

[1]इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रोत्र, (२) चक्षु, (३) घ्राण, (४) रसना और (५) स्पर्शन।

---

[1] नन्दिसूत्र, सूत्र ३०, स्थानांग सूत्र, स्था० ५।

जैन तर्कशास्त्र में इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या का निरसन किया गया है, और भली-भाँति सिद्ध किया गया है कि यह पाँचों इन्द्रियाँ परस्पर कथंचित् भिन्न-भिन्न हैं, और आत्मा के साथ भी इनका कथंचित् भेद और अभेद ही है।

पांचों इन्द्रियां दो-दो प्रकार की हैं[1]—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इन्द्रियों का बाह्य पौद्गलिक रूप द्रव्येन्द्रिय कहलाता है, और आन्तरिक चिन्मय रूप भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय के भी दो भाग हैं[2] 'निवृत्ति' अर्थात् इन्द्रियों की विविध आकार की रचना, और 'उपकरण' अर्थात् संवेदन में सहायक स्वच्छ पुद्गलों की शक्ति। यों तो जैनाचार्यों ने इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी काफी गहन विचार प्रदर्शित किए हैं और निवृत्ति-इन्द्रिय का भी बाह्य निवृत्ति और आन्तरिक निवृत्ति के रूप में विश्लेषण किया है; परन्तु हम यहाँ उस गहराई में नहीं उतरना चाहते।

आत्मा की संवेदनात्मक शक्ति और संवेदना का व्यापार भावेन्द्रिय हैं, जिसे क्रमशः लब्धि और उपयोग का नाम दिया गया है।[3] आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली शक्ति लब्धि भावेन्द्रिय है, और उस शक्ति का व्यापृत होना उपयोगभावेन्द्रिय है।

नेत्र इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों से कुछ भिन्न प्रकार की है। चार इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों के अर्थात् अपने-अपने विषय के संसर्ग से उत्तेजित होकर अपने ग्राह्य विषय को ग्रहण करती हैं, किन्तु नेत्र को संसर्ग की आवश्यकता नहीं होती। वह प्रकाश एवं रंग के आधार से ही संवेदन करती है। इस प्रकार चार इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी' और चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी[4] हैं।

इन्द्रियों के विषयः—[5]श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है—जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्रशब्द।

शब्द [6]एक प्रकार के पुद्गल परमाणुओं का कार्य है। वह परमाणु

---

[1] प्रज्ञापनासूत्र इन्द्रियपद १५वां। [2] प्रज्ञापना, इन्द्रियपद १५वां।
[3] प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रियपद, १५वां। [4] तत्वार्थ सूत्र, १।१९।
[5] प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रियपद १।१९। [6] प्रज्ञापना सूत्र भाषापद १।१९

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जब वक्ता बोलता है, तो वे पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं और एक ही समय में लोक अन्तिम छोर तक पहुँच जाते हैं। उसकी गति का वेग हमारी कल्पना से भी बाहर है।

जमीन पर बनी पगडंडियों की तरह आकाश में भी श्रेणियां हैं, जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर और नीचे की ओर फैली हैं। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द इन श्रेणी रूप मार्गों से फैलता है।

श्रोता यदि समश्रेणी में स्थित हो तो भी वह कोरे वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द नहीं सुनता, बल्कि वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द-द्रव्यों तथा उन शब्दद्रव्यों से वासित हुए बीच के शब्द द्रव्यों के संघर्ष से उत्पन्न मिश्रशब्दों को सुनता है।

भिन्न श्रेणी में स्थित श्रोता मिश्र शब्द भी नहीं सुन पाता। वह उच्चारित मूल शब्दों द्वारा वासित शब्द ही सुन सकता है।

वक्ता द्वारा उच्चारित या भेरी आदि से उत्पन्न शब्दों के संघर्ष से बीच में स्थित भाषावर्गणा के पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। वे वासित शब्द कहलाते हैं।

विश्रेणी में दूसरे-तीसरे समय में ही शब्द सुनाई देता है पर जैन मान्यता के अनुसार बोला हुआ शब्द दूसरे समय में सुनने योग्य नहीं रह जाता। इससे अनुमान होता है कि विश्रेणी में सुनाई देने वाले शब्द वक्ता द्वारा उच्चारित मूल शब्द नहीं हैं, वरन् उस शब्द द्वारा वे शब्द रूप में परिणत किए हुए दूसरे ही शब्द हैं।

जल में पत्थर डालने से एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर अन्य लहरों को उत्पन्न करती हुई जलाशय के अन्त तक जा पहुँचती है। इसी प्रकार वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषाद्रव्य अग्रसर होता हुआ आकाश में स्थित अन्यान्य भाषायोग्य पुद्गलों को भाषा के रूप में परिणत करता हुआ लोकान्त तक चला जाता है। लोकान्त में पहुँचते ही उसकी श्राव्य-शक्ति समाप्त हो जाती है; परन्तु अन्यान्य भाषाद्रव्यों को शब्द रूप में परिणत कर देता है और वे नवीन उत्पन्न हुए शब्द, मूल तथा मिश्र शब्दों की प्रेरणा से गतिमान् होकर विश्रेणियों की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार सिर्फ चार समयों में सम्पूर्ण लोकाकाश उन शब्दों से व्याप्त हो जाता है। (विशेष जानकारी के लिए देखिए—प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद)।

चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है। रूप काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत—पांच प्रकार है। शेष सब रूप इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं।

गंधसंवेदन का अनुभव नासिका द्वारा प्राप्त होता है। जब वायु के साथ रासायनिक गंध कण नासिका में प्रविष्ट होते हैं तो वह घ्राण के रोम कूपों को उत्तेजित करते हैं। उनकी उत्तेजना से आत्मा को घ्राण अनुभव होता है। यदि नासिका के दोनों पुट बंद कर दिये जाएं, तो गंध की अनुभूति नहीं होती, इससे साफ जाहिर है कि आत्मा को गंध संवेदन घ्राण द्वारा ही होता है। यद्यपि गंधसंवेदन अनेक प्रकार के होते हैं तथापि उन सब का समावेश सुगंध और दुर्गंध में ही हो जाता है।

रस का संवेदन रसना से होता है। रसना या जीभ तरल पदार्थ अथवा लार-मिश्रित पदार्थ के सम्पर्क से जब उत्तेजित हो उठती है, तभी वह अपने ज्ञानतंतुओं द्वारा रस-संवेदना उत्पन्न करती है।

रस पांच प्रकार का है। अम्ल, मधुर, कटुक, कषायला और तीक्ष्ण। अतएव रस-संवेदन भी पांच ही प्रकार का माना गया है।

स्पर्शानुभूति में स्पर्शन इन्द्रिय निमित्त होती है स्पर्शेन्द्रिय का द्रव्यरूप समग्र त्वचा है। आठ प्रकार के स्पर्श ही इस इन्द्रिय के विषय हैं, जो इस प्रकार हैं—उष्ण, रूक्ष, शीत, चिक्कण, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल।

मन

मानव जीवन में मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मा के उत्थान और पतन का भी वह प्रधान कारण है। इसीलिए विभिन्न आध्यात्मिक परम्पराएं भी एक स्वर से मनोविजय की अनिवार्य आवश्यकता उद्घोषित करती हैं, और साथ ही मनोविजय को दुश्शक्य कार्य स्वीकार करती हैं। गीता में श्रीकृष्ण स्वीकार करते हैं कि मन बड़ा बलशाली है, और जैसे हवा पर काबू पाना सरल नहीं, उसी प्रकार मन पर काबू पाना भी हंसी-खेल नहीं। उत्तराध्ययन, अध्याय २३, गाथा ५८ में इन्द्रभूति गौतम जैसे महाश्रमण भी मन को साहसी, भयानक और दुष्ट अश्व के समान बतलाकर वही बात कहते हैं।

वास्तव में मन बड़ा जबर्दस्त है। वह बड़े-बड़े योगियों को भी ऐसा नाच नचाता है, जैसे मदारी बन्दर को। कितने ही साधक मन पर नियंत्रण पाने के लिए अरण्यवास अंगीकार करते हैं, परन्तु मन क्षण भर में उन्हें विलासमय राजप्रासाद में लाकर खड़ा कर देता है, और अरण्य में साधक का सिर्फ कलेवर ही रह जाता है। कोई-कोई साधक उसे जीतने के लिए कंटकशय्या अंगीकार करते हैं, परन्तु मन उन्हें सुखद और सुकोमल सेज पर पौढ़ा देता है। कंटक-

शय्या पर उनकी लाश ही धरी रहती है। साधक चाहता है कि मैं साम्यभाव के सरोवर में अवगाहन करूं, मगर मन उसे राग-द्वेष के कीचड़ में फंसा देता है।

मन में अद्भुत मोहिनी शक्ति है। जो उसे नियंत्रित करना चाहता है, उसी को वह अपने नियंत्रण में ले लेता है, और उस पर मनचाहा शासन करता है।

इस प्रकार मन अपरिमित बलशाली है। फिर भी गौतम स्वामी कहते हैं—'मन दुर्जय होने पर भी अजेय नहीं। वह धर्मशिक्षाओं के प्रयोग द्वारा जीता जा सकता है।' शास्त्र में वैराग्य और अभ्यास के द्वारा उसके विजय की शक्यता स्वीकार की है।

प्रश्न होता है—'जिसके सामने बड़े-बड़े पहुंचे हुए योगी भी नतमस्तक हो जाते हैं, और हार मान बैठते हैं, परन्तु जिस पर विजय प्राप्त किये बिना साधक की गाड़ी-अगाड़ी नहीं बढ़ सकती, वह मन क्या है?'

इन्द्रियों की भांति मन भी आत्मा के संवेदन का एक साधन है। पर वह इन्द्रिय नहीं, अनिन्द्रिय अथवा नोइन्द्रिय कहलाता है। इन्द्रियां अपने-अपने नियत विषय को गोचर करती हैं, जैसे श्रोत्र शब्द सुनता है, आंख रूप को ही और नाक गंध को ही ग्रहण करती है, परन्तु मन सर्वार्थग्राहक है। वह रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि सभी विषयों में और साथ ही अमूर्त्त पदार्थों में भी प्रवृत्ति करता है। इन्द्रियों द्वारा सीमित क्षेत्र में ही विषय की उपलब्धि हो सकती है, परन्तु मन के लिए क्षेत्र की कोई मर्यादा नियत नहीं है। वह क्षण भर में स्वर्ग, नरक आदि अखिल विश्व का चक्कर काट आता है।

भगवान् महावीर ने कहा—"हे गौतम! मन जड़ भी है और चेतन भी है। मन के दो रूप हैं—पौद्गलिक और चैतन्यमय। पौद्गलिक मन द्रव्यमन कहलाता है, और चैतन्यमय मन भावमन। द्रव्य मन विचार करने में सहायक होने वाले विशेष प्रकार के पुद्गल परमाणुओं की रचना-विशेष है, और उन परमाणुओं में प्रवाहित होने वाली आत्मा की चैतन्यधारा भाव मन कहलाती है। अर्थात् मनोवर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ तत्वविशेष द्रव्य मन है, और आत्मा की चिन्तन-मनन रूप शक्ति भावमन है।

द्रव्यमन और भावमन दोनों मिलकर ही अपना चिन्तन कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। विचार करना, स्मरण करना, सोचना, योजना करना, इच्छा करना, स्नेह करना, घृणा करना, मनन-चिन्तन और विश्लेषण आदि करना, ये सब मानसिक व्यापार हैं, और उभयात्मक मन की सहायता से ही यह सम्पन्न होते हैं।

जैनागमों में मन के आधार पर भी प्राणियों का अमनस्क (असंज्ञी) और समनस्क (संज्ञी) के रूप में वर्गीकरण किया गया है।[1] ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता जिसमें होती है उसे शास्त्रकार संज्ञी कहते हैं, और इनके अभाव में जीव को असंज्ञी कहा जाता है। एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले सभी जीव अमनस्क होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में कोई-कोई समनस्क, और कोई-कोई अमनस्क होते हैं। यहां यह स्मरणीय है कि भावमन आत्मा की ही एक शक्ति होने के कारण सभी प्राणियों को प्राप्त रहता है, मगर द्रव्यमन के अभाव में उसका उपयोग नहीं हो सकता।

भावमन को अगर विद्युत् मान लिया जाय, तो द्रव्यमन को बिजली का लट्टू माना जा सकता है। विद्युत् का संचार होनेपर भी जैसे लट्टू के अभाव में प्रकाश नहीं होता, उसी प्रकार भावमन की विद्यमानता में भी द्रव्यमन के अभाव में चिन्तन आदि मनोव्यापार नहीं होते।

शरीर का राजा, और आत्मा का मंत्री होने के कारण मन कभी-कभी आत्मा को मोह में फंसा लेता है, और इधर-उधर भटकाता है, मगर वही मन जब वशीभूत हो जाता है, तो एकाग्रता के लाभ में सहायक बनता है तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कारण बन जाता है।

जैसा कि उत्तराध्ययन में कहा है, 'मन को वशीभूत करने लिए धर्मशिक्षा की आवश्यकता है।' गीता कथित 'अभ्यास और वैराग्य' भी इसी के अन्तर्गत हैं।

'मन का निग्रह करने से क्या लाभ होता है?' गौतम स्वामी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा था[2]—मनोनिग्रह से पांचों इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं, विषय वासना का उन्मूलन हो जाता है, और चंचलता नष्ट हो जाती है। मनोविजेता मुमुक्षु को एकान्तसमाधि अथवा एकाग्रता का अपूर्व लाभ होता है।

लेश्या

भारतीय तत्त्वगवेषकों ने मनोविज्ञान का—मानसिक विचारों, परिणामों, वृत्तियों और चंचलताओं का बहुत ऊंचे धरातल पर सर्वाङ्गीण विश्लेषण किया

---

[1] नन्दि सूत्र, सूत्र ४०।

[2] उत्तराध्ययन अ० २३, गा० ३६।

है। जैनतत्त्व चिन्तकों की उस विवेचन एवं विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण देन है। जैनशास्त्रों में लेश्या का जो विवेचन है, वह पुरातन कालीन मनोविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक अध्याय है, जो आज के मानस-शास्त्रियों के लिए बड़ा रुचिकर और बोधप्रद है। लेश्या का यह विवेचन हज़ारों वर्ष पहले तब लिपिबद्ध हो चुका है, जब आज के मनोविज्ञान का जन्म ही नहीं हुआ था।

लेश्या-विचार में यह देखा जाता है कि मानसिक वृत्तियों का कैसा वर्ण होता है? मनोविचारों को कितने वर्गों में बांटा जा सकता है। मनोविचारों का उद्गमस्थल क्या है? उनमें वर्ण आता कहां से है? आदि-आदि।

मन के विचारों में किसी-न-किसी प्रकार का वर्ण होता है, क्योंकि मानसिक चंचल लहरियां पुद्गलों से सम्मिश्रित होती हैं और पुद्गल मूर्त्त हैं। वैचारिक समूह का द्रव्य रूप पुद्गलमय होता है। जैसे विचार वैसा वर्ण और जैसा-जैसा विचार वैसे-वैसे पुद्गल का आकर्षण।

प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले मन के अध्यवसाय असंख्य हैं। कभी वह शुद्ध शुभ्र श्वेत होते हैं, तो कभी एकदम काले और कभी मिश्रित होते हैं। जैनधर्म की परिभाषा में वह मानसिक, वाचिक और कायिक परिणमन 'लेश्या' कहलाते हैं। (आवश्यक चूर्णी)

स्फटिक स्वरूपतः उज्ज्वल होता है, परन्तु उसके निकट जिस वर्ण के पुष्प रख दिऐ जाते हैं, स्फटिक उसी वर्ण का प्रतिभासित होने लगता है। आत्मा भी स्फटिक के समान ही उज्ज्वल और निर्मल है। मगर आत्मा के पास जिस वर्ण के परिणाम होंगे, वह उसी वर्णवाली प्रतिभाति होने लगेगी।

यद्यपि साधारण तौर पर लेश्या का अर्थ मनोवृत्ति, विचार या तरंग हो सकता है, किन्तु आचार्यों ने कर्माश्लेष के कारण भूत शुभाशुभ परिणामों को ही लेश्या कहा है। कोई-कोई आचार्य उसे योग के अन्तर्गत स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। मगर यह असंदिग्ध है कि द्रव्य लेश्या पौद्गलिक है।

लेश्याओं के वर्ण मन में उठने वाले शुभाशुभ परिणामों के द्योतक हैं। यद्यपि परिणाम असंख्य हैं, अतएव उनके सूक्ष्म तारतम्य के आधार पर लेश्याओं के भी असंख्य विकल्प हो सकते हैं, किन्तु उन्हें मोटे तौर पर छः भागों में विभक्त कर दिया गया है। इन छः भागों की तरतमता दिखलाने के लिए एक जैनागम-प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए :—

छह पुरुष जामुन खाने चले। फलों से लदे जामुन वृक्ष को देखकर

उनमें से एक ने कहा—'लो भाई, यह रहा जामुन का पेड़। बस, इसे धराशायी कर दें और मनचाहे फल खाएं।'

दूसरे ने कहा—'वृक्ष को काटने से क्या लाभ है? इसकी मोटी-मोटी शाखाएं ही काट लो।'

तीसरा—'शाखाओं को काटने की भी क्या आवश्यकता है? टहनियां काट लेना ही काफी होगा।'

चौथा—'अरे भाई, फलों के गुच्छे ही तोड़ लो न।'

पांचवां—'हमें तो पके जामुन चाहिएं। वही क्यों न तोड़ें।'

छठा—'मुझे तुम लोगों की एक भी बात नहीं जंची। जब हमें पके फल ही चाहिएं तो फिर नीचे गिरे हुए ही बीन-बीन कर क्यों नहीं खा लेते। व्यर्थ वृक्ष को, डालियों, टहनियों या गुच्छों को काटने-तोड़ने की क्या आवश्यकता है?'

विचारों के शुभत्व-अशुभत्व का तारतम्य इस उदाहरण से समझा जा सकता है। इसी तारतम्य के आधार पर लेश्याओं का छह प्रकारों में वर्गीकरण किया गया है। छह लेश्याएं यह हैं:—

१. कृष्णलेश्या,
२. नील लेश्या,
३. कापोत लेश्या,
४. तेजो लेश्या,
५. पद्मलेश्या,
६. शुक्ल लेश्या।

लेश्या के संबंध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—

१. कृष्ण लेश्या:—[1]'हे गोयमा! कृष्ण लेश्या मनोवृत्ति का निकृष्टतम रूप है। कृष्ण लेश्या वाले के विचार अत्यन्त क्षुद्र, क्रूर, कठोर, और नृशंस होते हैं। वह अहिंसा आदि व्रतों से घृणा करता है। तीव्रभाव से पापाचरण करता है, अविचारी, अविवेकी, भोग-विलासरत, इह लोक-परलोक की परवाह न करने वाला, अतीव स्वार्थी और अपने क्षुद्र आनन्द के लिए जगत् में प्रलय ला देने वाला होता है।

२. नील लेश्या:—[2]'हे गोयमा! कृष्ण लेश्या वाले की अपेक्षा नील लेश्या वालें की मनोवृत्ति कुछ अच्छी होती है, किन्तु वह ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, पापाचारी, लोलुप, अपने सुख का गवेषक, विषयी, हिंसाकर्मी

---

[1] उत्तराध्ययन अ० ३४, गा० २१, २२,

[2] " आ० ३४, गा० २३, २४।

और क्षुद्र होता है। मगर अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के संरक्षण का गुण उसमें होता है।'

३. कापोत लेश्या—[१] 'इस लेश्या वाला हे गौतम ! मन वाणी और कार्य से वक्र होता है। मिथ्यादृष्टि, अपने दोषों को ढांकने वाला और परुषभाषी होता है, मगर अपने स्वार्थ के लिए पशुओं का भी संरक्षण करता है।'

४. तेजोलेश्या—[२] गौतम ! इस लेश्या वाला पुरुष पवित्र, नम्र, अचपल, दयालु, विनीत, इन्द्रिय जयी, पाप-भीरु और आत्मसाधना की आकांक्षा रखने वाला होता है। वह अपने सुख की ही अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु दूसरों के प्रति भी उदार होता है।'

५. पद्मलेश्या—[३] 'गौतम ! पद्म लेश्या वाले की मनोवृत्ति धर्मध्यान और शुक्लध्यान में विचरण करती है। वह पुरुष कमल के समान अपनी सुवास से दूसरों को आनन्दित करता है। संयम का उत्कृष्ट साधक, कषायों के अधिकांश पर विजय पाने वाला, मितभाषी, जितेन्द्रिय और सौम्य होता है।'

६. शुक्ल लेश्या—[४] 'हे गौतम ! यह मनोवृत्ति अत्यन्त विशुद्ध होती है। शुक्ल लेश्या वाला पुरुष समदर्शी, निर्विकल्प ध्यानी, प्रशान्त अन्तःकरण वाला, समिति-गुप्ति से युक्त अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान और अशुभ प्रवृत्ति से दूर, सम्पूर्ण प्राणी-सृष्टि पर प्रेमामृत बरसाने वाला, और वीतराग होता है।'

लेश्याओं द्वारा विचारों का शुभ-अशुभभाव बताकर प्रारम्भ की तीन लेश्याओं को त्याज्य और अन्तिम तीन लेश्याओं को उपादेय कहा है।[५] पहली तीन, पाप-लेश्याएं या अधर्म-लेश्याएं हैं। अन्त की तीन, शुभ या धर्म-लेश्याएं कहलाती हैं। अन्तिम शुक्ल लेश्या आत्मविकास की अनिवार्य शर्त है। अगर मनुष्य की विचारधारा, क्षुद्र, शुभ्रतर और शुभ्रतम की ओर चल पड़े तो मनुष्य अपनी आत्मा का शीघ्र ही कल्याण कर सकता है और विश्वशान्ति के लिए बहुत कुछ कर सकता है।

---

[१] उत्तराध्ययन, अ० ३४, गा० २५, २६,
[२] " " " " २७, २८,
[३] " " " " २९, ३०,
[४] " " " " ३१, ३२,
[५] " " " " ५६, ५७

जैन धर्म में कषाय और लेश्या का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है, द्रव्य और भाव रूप से लेश्या और कषाय के वर्णन में पारस्परिक सामञ्जस्य इस प्रकार हो गया कि दोनों को पृथक् करना दुष्कर बन गया है। फिर भी उदाहरण के द्वारा जैनाचार्यों ने उसे इस प्रकार समझाया है कि जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध भड़क उठता है उसी प्रकार लेश्या के द्रव्य, कषायों को उत्तेजित करते हैं। परिणामों, विचारों तथा मानसिक उद्वेगों को लेश्या द्वारा रंग, गंध, रस तथा स्पर्श आदि सभी कुछ प्राप्त होता है। जैसे कृष्ण लेश्या में काजल जैसा रंग होता है, नील लेश्या में मोर की गर्दन जैसा नीला रंग रहता है, कापोत लेश्या में कबूतर जैसा, तेजोलेश्या में मनुष्य रक्त जैसा, पद्म लेश्या में चम्पा के फूल जैसा, तथा शुक्ल लेश्या में चन्द्रमा जैसा रंग रहता है। इसी प्रकार रसास्वाद में भी अन्तर होता है। कृष्ण लेश्या वाले पुरुष को कड़वी तूम्बी जैसा, नील वाले को मिर्च, कपोत वाले को दाड़िम, तेजो वाले को पके हुए आम, पद्म वाले को इक्षु रस, और शुक्ल लेश्या वाले को मिश्री जैसा आस्वाद अनुभव होता है। उसी प्रकार लेश्याओं में सुगंध और दुर्गन्ध का भी सहभाव पाया जाता है। लेश्या के पुद्गलों का स्पर्श अप्रशस्त तीन का कर्कश, और प्रशस्त तीन का नवनीत जैसा कोमल होता है।

जैनाचार्यों ने लेश्या और कषाय द्वारा मनोमय वैचारिक जगत् का विलक्षण वर्णन किया है, आधुनिक विज्ञान में जो रंग विज्ञान के द्वारा मानसिक रुचि का परिज्ञान किया जाता है, किन्तु भगवान् महावीर ने तो लेश्याओं के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा हमारे अन्तर्जगत् का स्पष्ट चित्र खैंच कर हमारे सामने रख दिया है। लेश्याओं के ज्ञान से जगत् अशुभ से शुभ की ओर प्रयाण करे यही सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन है।

कषाय

कषाय का अर्थ—कषाय जैनधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। यह 'कष' और 'आय' इन दो शब्दों के मेल से बना हैं। कष का अर्थ है 'कर्म' अथवा 'जन्म-मरण'। जिससे कर्मों का आय या बन्धन होता है, अथवा जिससे जीव को पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है, वह कषाय कहलाता है

जो मनोवृत्तियां आत्मा को कलुषित करने वाली हैं, जिनके प्रभाव से

आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है; मनोविज्ञान की भाषा में वह कषाय है। आवेश और लालसा की वृत्तियां कषाय को जन्म देती हैं। वह वृत्तियां भी अनेक प्रकार की हैं। मगर जैनधर्म में उन्हें चार भागों में बांटा गया है।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से कहा—"हे गौतम! कषाय चार हैं—

१. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ।

जैनागमों में इन कषायों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन मिलता है।

१. क्रोध—क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक संवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है, जिससे उसकी विचार क्षमता और तर्क शक्ति बहुत कुछ शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेश की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा अमर्ष को और अमर्ष आक्रमण को उत्पन्न करता है। क्रोध और भय में यही प्रधान अन्तर हैं कि क्रोध के आवेश में आक्रमण का, और भय के आवेश में आत्म रक्षा का प्रयत्न होता है।

क्रोध का आवेश होते ही शारीरिक स्थिति परिवर्तित हो जाती है। आमाशय की मथन क्रिया, रक्तचाप, हृदय की गति, और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु—सब अव्यवस्थित हो जाते हैं, और भय के बढ़ने पर आमाशय काम करना ही बंद कर देता है। मगर क्रोध में रक्त का बढ़ना, हृदय का धड़कना और ज्ञान-तन्तुओं का शून्य होना विशेष क्रियाएं हैं। अतः भगवान् महावीर फरमाते हैं—'क्रोध—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला, प्रज्वलनरूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है।'

क्रोध के नाना रूप होते हैं। उन्हें प्रदर्शित करने के लिए शास्त्र में क्रोध के दस नाम गिनाये गए हैं—जो मोटे तौर पर समानार्थक होने पर भी क्रोध के भिन्न-भिन्न रूपों के निदर्शक हैं। वे यह हैं—

१. क्रोध–संवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था।
२. कोप–क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता।
३. रोष–क्रोध का परिस्फुट रूप।
४. दोष–स्वयं पर या पर पर–दोष थोपना।
५. अक्षमा–अपराध को क्षमा न करना-उग्रता।
६. संज्वलन–बार-बार जलना, तिलमिलाना।
७. कलह–जोर-जोर से बोल कर अनुचित भाषण करना।

८. चाण्डिक्य—रौद्र रूप धारण करना।
९. भंडन—पीटने-मारने पर उतारू हो जाना।
१०. विवाद—आक्षेपात्मक भाषण करना।

यह क्रोध की विभिन्न अवस्थाएं हैं जो उत्तेजन एवं आवेश के कारण उत्पन्न होकर भयंकरता उत्पन्न करती हैं। (भगवती सूत्र, शतक १२, उ० ५, पा० २।)

२. अभिमान—कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, ज्ञान आदि किसी विशेषता का घमंड करना मान है। मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही, परन्तु जब उसमें उचित से अधिक शासित करने की भूख जागृत होती है, और जब अपने गुणों एवं योग्यताओं को परखने में वह भूल कर जाता है, तब उसके अन्तःकरण में मान की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है।

अभिमान में भी उत्तेजन और आवेश होता है, किन्तु अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का गुणी कोई दीखता नहीं। भगवान् महावीर ने मान के बारह नाम बतलाये हैं—

१. मान—अपने किसी गुण पर झूठी अहंवृत्ति।
२. मद—अहंभाव में तन्मयता।
३. दर्प—उत्तेजनापूर्ण अहंभाव।
४. स्तम्भ—अविनम्रता।
५. गर्व—अहंकार।
६. अत्युत्क्रोश—अपने को दूसरों से श्रेष्ठ कहना।
७. परपरिवाद—परनिन्दा।
८. उत्कर्ष—अपना ऐश्वर्य प्रकट करना।
९. अपकर्ष—दूसरों की हीनता प्रकट करना।
१०. उन्नत—दूसरों को तुच्छ समझना।
११. उन्नतनाम—गुणी के सामने भी न झुकना।
१२. दुर्नाम—यथोचित रूप से न झुकना।

यह सब मान की विभिन्न अवस्थाएं हैं।

—भगवती, श० १२, उ० ५, पाठ ३।

३. माया—कपटाचार माया कषाय है। शास्त्र में इसके पन्द्रह नाम गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. माया—कपटाचार।

२. उपाधि–ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार।
३. निकृति–छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करना।
४. वलय–वक्रतापूर्ण वचन।
५. गहन–ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करना।
६. नूम–ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करना।
७. कल्क–दूसरे को हिंसा के लिए उभारना।
८. कुरूप–निन्दित व्यवहार।
९. जिह्मता–ठगाई के लिए कार्य मन्द करना।
१०. किल्विषिक–भाँडों की भांति कुचेष्टा करना।
११. आदरणता–अनिच्छित कार्य भी अपनाना।
१२. गूहनता–अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना।
१३. वंचकता–ठगी।
१४. प्रतिकुंचनता–किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खंडन करना।
१५. सातियोग–उत्तम वस्तु में हीन वस्तु मिश्रित करना।

यह सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएं हैं।

—भगवती, श० १२, अ० ५, पा० ४।

४. लोभ—मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएं होती हैं—

१. लोभ–संग्रह करने की वृत्ति।
२. इच्छा—अभिलाषा।
३. मूर्छा—तीव्रतम संग्रहवृत्ति।
४. कांक्षा–प्राप्त करने की आशा।
५. गृद्धि–प्राप्त वस्तु में आसक्ति होना।
६. तृष्णा–जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति।
७. मिथ्या–विषयों का ध्यान।
८. अभिध्या–निश्चय से डिग जाना।
९. आशंसना—इष्टप्राप्ति की इच्छा करना।
१०. प्रार्थना–अर्थ आदि की याचना।
११. लालपनता–चाटुकारिता।
१२. कामाशा–काम की इच्छा।
१३. भोगाशा– भोग्य पदार्थों की इच्छा।

१४. जीविताशा—जीवन की कामना।

१५. मरणाशा—मरने की कामना।

१६. नन्दिराग—प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

—भगवती, श० १२, उ० ५, पा० ५।

वर्गीकरण—पूर्वोक्त चारों कषायों की विभिन्न अवस्थाओं को समझ लेने के पश्चात् उनकी तीव्रता-मन्दता के आधार पर किये गए वर्गीकरण को भी देखना उचित होगा। यह वर्गीकरण भी मानस-शास्त्रियों के लिए बड़ा दिलचस्प है।

क्रोध आदि चारों कषाय आवेश की तरतमता और स्थायित्व के आधार पर चार-चार भागों में बांटे गए हैं।

जैनागमों में इनका स्पष्टीकरण उदाहरणों द्वारा किया गया है। वे क्रमशः इस भाँति हैं—

१. अनन्तानुबंधी क्रोध — पत्थर में पड़ी दरार के समान, जो मिटती ही नहीं।
२. अप्रत्याख्यानी क्रोध — जलाशय के सूखते हुए कीचड़ की भूमि में पड़ी दरार के समान, जो आगामी वर्षा ऋतु में मिटती है।
३. प्रत्याख्यानी क्रोध — रेत की रेखा के समान, जो जल्दी मिट जाती है।
४. संज्वलन क्रोध — पानी में खींची रेखा के समान, जो खींचने के साथ ही मिट जाती है।

मान के चार प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबंधी मान — पापाण स्तम्भ के समान जो मुड़ता ही नहीं।
२. अप्रत्याख्यानी मान — हड्डी के समान।
३. प्रत्याख्यानी मान — लकड़ी के समान।
४. संज्वलन मान — बेंत के समान।

माया के चार प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबंधी माया — बांस की जड़ के समान, अतीव कुटिल।
२. अप्रत्याख्यानी माया — भैंस के सींग के समान।
३. प्रत्याख्यानी माया — गोमूत्र की धारा के समान।
४. संज्वलन माया — बाँस के छिलके के समान।

लोभ के चार प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबंधी लोभ – कृमिराग (मजीठिया रंग) के समान ।
२. अप्रत्याख्यानी लोभ – गाड़ी के पहिए में लगाए जाने वाले औंगन के समान ।
३. प्रत्याख्यानी लोभ – कीचड़ के समान ।
४. संज्वलन लोभ – हल्दी के लेप के समान ।

अनन्तानुबंधी कषाय अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण का कारण है। इसकी विद्यमानता में जीव सम्यग्दर्शन तक प्राप्त नहीं कर पाता। यह जिन्दगी भर पिण्ड नहीं छोड़ता, और मरने पर नरक में ले जाता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय, सम्यग्दर्शन का विघात तो नहीं करता, पर देशविरति रूप में भी चारित्र उत्पन्न नहीं होने देता। एक वर्ष तक यह कषायं बना रहता है। इसके उदय से जीव तिर्यञ्चगति पाता है।

प्रत्याख्यानावरण के सद्भाव में मनुष्य साधुदशा प्राप्त करने के योग्य नहीं बन पाता। चार मास की इसकी स्थिति है। इसके प्रभाव से मनुष्य-गति में जन्म होता है।

संज्वलन कषाय के उदय से जीव देवगति पाता है। इसका स्थितिकाल एक पखवाड़ा है। यह आत्मरूप विशुद्ध यथाख्यात चारित्र का घात करता है।

क्षेत्र, वस्तु, शरीर और परिग्रह का ममत्व कषाय के उदय का कारण अवश्य है, किन्तु कषाय जब मानसिक परिस्पन्दन द्वारा पुद्गल आकर्षण करती है उसमें पांचों वर्ण, दो गंध, पांच रस, और चार स्पर्शों के पुद्गल आकृष्ट हो जाते हैं।[1]

जैनधर्म में कषाय के रंग-रूप का बहुत ही सूक्ष्म वर्णन मिलता है, श्रीमद्भगवद्गीता में भी आसुरी और दैवी प्रकृति का वर्णन बिल्कुल इसी ढंग का प्राप्त होता है।

कषाय का दुष्परिणाम जगत् आज तक भोगता चला आ रहा है, प्रेम, प्यार और प्रतीति को कषाय ने ही नाश किया है। भगवान् महावीर फरमाते हैं—

---

[1] १, भगवती, शतक १२, उ० ५, पाठ ३।

राग-द्वेष ही विष-वृक्ष है। वासना और कषाय से राग-द्वेष को जन्म मिलता है। माया व लोभ से आसक्ति, आसक्ति से राग, एवं क्रोध व मान से घृणा और घृणा से द्वेष पैदा होता है। घृणा व आसक्ति ने ही वैर व ममता को प्रश्रय दिया है। समूचा जगत् वासना और कषाय की अग्नि में झुलस रहा है। विशुद्ध श्रुत साहित्य, ब्रह्मचर्य तथा तप का पालन व विवेक तथा विज्ञान का पवित्र जल ही इसे बुझा सकता है।

भगवान् कहते हैं कि :—

'क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का, और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है।'

'शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को, और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।'

—दशवैकालिक सूत्र, अ० ८, गा० ३८, ३९।

वस्तुतः कषाय ही आत्मा की विकृति के प्रधान कारण हैं। कषायों का अन्त हो जाना ही भवभ्रमण का अन्त हो जाना है। "कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।"

* * *

धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जंहि सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥
एयं सिणाणं कुसलेंहि दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जंहि सिणाया विमला विशुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते॥

——उत्तराध्ययन, अ० १२, गा० ४६, ४७।

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहां स्नान कर आत्मा सर्वथा विशुद्ध हो जाती है।

मैं उस परम शीतलता को प्राप्त करता हुआ, समस्त अन्तर, और बाह्य के दोषों को दूर करता हूं। कुशल पुरुषों ने और समाधिस्थ योगी, महर्षियों ने इसी परम स्नान के द्वारा, उस परम धाम को प्राप्त किया है।

जैन-योग

जैन योग

योग का प्रसिद्ध अर्थ समाधि है अथवा संयोग । समाधि योग का साध्य है, और संयोग साधन । ध्याता का ध्येय के साथ संयोग—तदाकार हो जाना ही योग है, अतः चित्त-वृत्तियों का निरोध भी योग कहा जाता है । इन्हें ध्यान और समाधि भी कहा जा सकता है, क्योंकि ध्यानयोग में मन की एकाग्रता का सम्पादन करना और सभाधि में मन की सुस्थिरता प्राप्त करना ही योग की सिद्धि है; किन्तु जैनागमों में मन, वचन तथा काया के व्यापारों को भी योग कहा गया है ।[1]

आत्म-प्रदेशों के साथ—कर्मपरमाणुओं का सम्बद्ध होना ही बंध कहलाता है, बंध में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग ही कारण हैं ।[2] विशेषकर आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्ति में मन, वचन तथा काया-व्यापार की नितान्त आवश्यकता रहती है । इसीलिए इन्हें आस्रवद्वार भी कहा जाता है । यद्यपि वीर्यान्तरकर्म के क्षयोपशम में आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन-कम्पन-व्यापार ही वास्तव में योग है, किन्तु यह आत्म-परिस्पन्दन मन, वचन तथा काया के आश्रित हैं, अतः इन्हें ही योग कहा जाता है ।

---

१. तिविहेजोए, ठाणांग, स्थान ३ ।

२. पंच आसवदारा पण्णत्ता, समवायाँग, समवाय ५,

मन, शरीर और इन्द्रियों का शासक है, वाणी अन्तःस्थ भावनाओं की अभिव्यञ्जना का माध्यम है और शरीर क्रियाशक्ति का केन्द्र है, शरीर की अपेक्षा वाणी में और वाणी की अपेक्षा असंख्य गुण-शक्ति मन में है।

जैनागम में मन को यथार्थ, अयथार्थ, उभय और अनुभय के रूप में चार भागों में बांटा है। मन की सारी दौड़-धूप इसी चतुष्पथ में समाप्त हो जाती है। यद्यपि मनोदण्ड के नाते स्थूल रूप से छः दोषों से मन अभिभूत हो जाता है जैसे कि—

१. विषाद, २. निर्दयतापूर्ण-विचार, ३. व्यर्थ कल्पना-जाल, ४. इधर उधर मन को भटकाना, ५. अपवित्र विचार, ६. द्वेष या अनिष्ट चिंतन आदि।

इन से विपरीत मन को प्रशस्त भाव, पवित्र विचार, विश्वहित तथा आत्मबोध की ओर लगाना ही मनयोग है।

वचन योग भी सत्यवाणी, असत्यवाणी सत्यासत्य और अनुभयरूप वाणी के भेद से चार प्रकार का होता है। वचन भी अप्रशस्त भाव से छः बुराई कर बैठता है—

१. असत्य-भाषण २. निन्दा, चुगली, ३. कटुगाली, शाप देना, ४. अपनी बड़ाई हांकना ५. व्यर्थ की बातें करना, ६. शास्त्रों के सम्बन्ध में मिथ्याप्ररूपणा करना।

इन्हीं से विपरीत प्रशस्त वचन का अर्थ है—'हितमित्त पथ्य, सुखद, कल्याणकर वाणी बोलना।'

काया का व्यापार बहुत विस्तृत है, जैनधर्म में इस शरीर को औदारिक शरीर बताया गया है। औदारिक, आहारक, वैक्रिय और कार्मण काय-योग के साथ जो आत्म-परिस्पन्दन होता है, उसे काय-योग कहा जाता है।

और सामान्यतः काय योग को भी प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से विभक्त किया गया है, जैसे कायादण्ड के नाते—

१. पीड़ा पहुँचाना, २. व्यभिचार करना, ३. वस्तु चुराना, ४. अकड़ कर चलना, ५. व्यर्थ की चेष्टाएँ करना, ६. असावधानी से चलना, अयत्ना करना आदि कायदण्ड हैं, और इन्हीं के विपरीत प्रशस्त काय योग पीड़ा न पहुँचाना, ब्रह्मचर्य पालन करना, और संयत रहना आदि काया के शुभ व्यापार हैं।

मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग, तथा हठयोग की तरह जैनधर्म में भी योग को समाधि के रूप में ग्रहण किया गया है, किन्तु जैनधर्म निरोध प्रधान ही योग नहीं है, अपितु वह चिन्तन-प्रधान योग को मानता है, जैनधर्म के योग का स्पष्ट मन्तव्य यह है कि अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा, [1]और लौकिक योग में मनोलय का ही आदर्श श्रेष्ठ माना गया है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग के पाँच प्रकार बतलाए हैं—और योग को निर्वाण-प्राप्ति का श्रेष्ठतम मार्ग प्रतिपादित किया है, एवं :—

१. अध्यात्म योग, २. भावना योग, ३. ध्यान योग, ४. समता योग, व ५. वृत्ति संक्षय योग, को ही योग का सोपान-क्रम निश्चित किया गया है। भावना, ध्यान, तथा समता का तो वर्णन पृथक्-पृथक् यथा स्थान में हुआ है, संभव है अध्यात्म और वृत्ति संक्षय के अर्थ में कुछ भ्रान्ति रह जाए अतः जैनधर्म के अनुसार अध्यात्म का अर्थ तत्त्वचिन्तन करना है, जो औचित्य, वृक्षसमवेतत्त्व, आगमानुसारित्व तथा मैत्री, करुणा, प्रमुदित और उपेक्षा-भावना से युक्त होना चाहिए।

वृत्ति संक्षय का अर्थ आत्मा में शरीर मन के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली विकल्प रूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का अपुनर्भाव से व आत्यन्तिक रूप से समूल नाश हो जाना ही किया गया है।[2] पतञ्जलि योग के अनुसार इन्हें संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि के रूप से तुलनात्मक भाषा में प्रतिपादित किया जा सकता है।

जैनधर्म में अष्टांग योग—जैन-धर्म में भी योग के अष्टाँगों का वर्णन प्राप्त होता है, यद्यपि जैनागमों में चित्तगत मल का नाश और आत्मगत ज्ञान की प्राप्ति को ही योग का मुख्य ध्येय बताया गया है, किन्तु योग के अष्टाँगों का बहुत ही मौलिक रूप से वर्णन किया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाँगों के ये नाम बताये हैं—

१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

---

१. अकुसल मण निरोहो वा, कुसल मन उदीरणं वा,।
भगवती शतक २५, उ० ७, पा० ७।

२. योगविन्दु ३६६।

३. जैनागमों में अष्टांगयोग (आचार्य आत्माराम जी महाराज)

जैनधर्म के अनुसार इन्हीं अष्टाँगों को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है, जैसे कि—

१. महाव्रत (यम), २. ३२ योगसंग्रह (नियम), ३. कायक्लेश (आसन), ४. भावप्राणायाम (प्राणायाम), ५. प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार), ६. धारणा (धारणा), ७. ध्यान (ध्यान), ८. समाधि (समाधि)।

महाव्रत पाँच हैं, अहिंसादि। योग संग्रह ३२ हैं जैसे—

१. पापों की आलोचना, २. किसी की आलोचना दूसरे को नहीं कहना, ३. कष्ट में धर्म दृढ़ता, ४. स्वालम्बी तप करना, ५. शिक्षा-ग्रहण, और आसेवन शिक्षा का पालन। ६. शरीर की निष्प्रतिक्रमता, ७. मान बड़ाई न चाह कर, अज्ञात तप, ८. अलोभ, ९. तितिक्षासहन, १०. सरलता, ११. पवित्रता, १२. सम्यग्दृष्टि, १३. समाधिस्थ होना, १४. सदाचारी १५. विनयी, १६. धैर्यवान् १७. संवेगयुक्त, १८. अमायी, १९. सदनुष्ठान, २०. संवरयुक्त, २१. स्वदोषों का निरोध, २२. कामविषयादि से विरक्त, २३. मूल गुणों का शुद्ध पालन, २४. उत्तर गुणों का शुद्ध पालन, २५. व्युत्सर्ग करना, २६. अप्रमादी, २७. क्षण-क्षण में समाचारी का ध्यान, २८. ध्यान, संवर युक्त करना, २९. मृत्यु-तुल्य कष्ट में भी अचल, ३०. संगत्याग, ३१. प्रायश्चित्त करना, ३२. मरण समय आराधक बनना।

काय-क्लेश में अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन किया गया है, जैसे कि—वीरासन, कमलासन, उत्कटिकासन, गोदोहासन, सुखासन आदि कायोत्सर्ग आदि।[1]

प्राणायाम के विषय में जैनागमों में अधिक नहीं कहा गया; क्योंकि आसन, मुद्रा, प्राणायाम, और षट्कर्म पर हठयोग में अधिक बल दिया गया है; किन्तु जैनधर्म में तो उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और लोकत्याग के द्वारा और प्राण-वृत्ति के निरोध से भाव प्राणायाम को ही महत्त्व दिया गया है।

प्रत्याहार और प्रतिसंलीनता के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। इन्द्रिय, कषाय, योग और विविक्त शयनासन, प्रतिसंलीनता का अर्थ है, अप्रशस्त से हटाकर प्रशस्त की ओर प्रयाण करना।[2]

६. धारणा[3]—चित्त की एकाग्रता के किसी एक स्थान पर अथवा किसी एक पुद्गल पर दृष्टि लगा देना धारणा है।

---

[1] औपपा सू०। [2] औपपा सू०, भगवती श०, २५, उ० ७, प० ७।

[3] भगवती शतक, ३, उ० २, 'एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठि'।

७. ध्यान के विषय में जैनागमों में बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। जैनधर्म में ध्यान की परिभाषा यह की गई है जैसे कि स्थिर दीप-शिखा के समान निश्चल और अन्य विषय के संचार से रहित केवल एक ही विषय के धारावाही प्रशस्त सूक्ष्म बोध को ध्यान योग कहा गया है[1], क्योंकि शक्ति का अभ्युदय संकल्प की दृढ़ता और तीव्रता में निहित है, और संकल्प की दृढ़ता एवं तीव्रता मानसिक वृत्तियों के अनियन्त्रित प्रसार अवरोध में। जब मनोवृत्तियाँ अपने उद्दाम उच्छृङ्खल प्रवाह को रोक कर एक ओर बहने लगती हैं, चिन्तन धारा लक्ष्य की ओर ही तीव्रता के साथ दौड़ना प्रारम्भ कर देती है, उस समय का चित्तवृत्तियों का एक ही ओर का वह प्रवहन जैनशास्त्रों में ध्यान कहलाता है।

ध्यान के अवलम्बन से मानसिक शक्ति पुंजीभूत हो जाती है, और आत्मा में अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है। इसी कारण जैनधर्म की साधना में ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, और अशेष कर्मक्षय का साक्षात् कारण माना गया है।

हमारी मानसिक वृत्तियों के प्रवाह के सामने एक चत्वर है। चहुंमुखी मार्ग है। उसे चार प्रकार का ध्यान[2] कहा जाता है और उनका संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—

१. आर्त्तध्यान—शोक, चिन्ता से उद्भूत वृत्तिप्रवाह।

२. रौद्रध्यान—पाप जनक दुष्ट भावों से उत्पन्न होने वाला दुःसंकल्प।

३. धर्मध्यान—आत्मस्वरूप दर्शन की उत्कंठामयी चित्तवृत्ति।

४. शुक्लध्यान—शुद्ध आत्मदर्शन से जनित सर्वथा विशुद्ध आत्मवृत्ति।[3]

यही वह चत्वर है, जिस पर सृष्टि के समग्र प्राणियों की चित्त वृत्तियाँ दौड़ रही हैं।

(१) आर्त्तध्यान—अरति, शोक, संताप और चिन्ता हमारे मन पर

---

[1] निवायसरणप्पदीप्पपज्झाणमिव निप्पकंपे, प्रश्न० संवरदार, ५।

[2] भगवती श०, २५, उ० ७, पा० १३,

[3] " " " " " " "

जो प्रभुत्व जमा लेती है, उसके प्रधान कारण चार हैं—[1]

१. अनिष्ट वस्तु का संयोग और उसके वियोग—पृथक्करण के लिए होने वाली चिन्ता।

२. इष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर उसका सम्बन्ध-विच्छेद न होने की चिन्ता, और सम्बन्ध विच्छद होने पर उसकी पुनः प्राप्ति की कामना।

३. व्याधिजन्य दुःख और पीड़ा से विमुक्ति पाने की चिन्ता।

४. भविष्य के कमनीय स्वप्नों की पूर्ति की चिन्ता।

चार कारणों से उत्पन्न होने के कारण आर्त्तध्यान के प्रकार भी चार ही माने गये हैं।

(२) रौद्रध्यान—[2] रुद्र का अर्थ है क्रूर आशय। क्रूर आशय से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति की एकाग्रता रौद्रध्यान है। रौद्र ध्यान के चार कारण हैं, जिनसे यह ध्यान भी चार प्रकार का माना गया है :—[3]

१. हिंसानुबंधी—प्राणिहिंसा का क्रूर संकल्प।

२. मृषानुबंधी—असत्य, परपीड़ा-जनक या सत्य का अपलाप करने वाली वाणी का प्रयोग करना या ऐसा संकल्प करना।

३. चौर्यानुबंधी—अदत्तादान की चित्तवृत्ति।

४. संरक्षणानुबंधी—परिग्रह की रक्षा में संलग्न मनोवृत्ति।

(३) धर्मध्यान—[4] धार्मिक कार्यों में चित्त की एकाग्रता होना धर्मध्यान है। यह भी चार प्रकार का है। (उत्तराध्ययन अ० ३०, गा० ३५।)

१. आज्ञाविचय—वीतराग कथित तत्त्वों में अचल आस्था रखकर उनका यथोचित विश्लेषण करने की मानसिक एकाग्रता।

२. अपायविचय—राग, द्वेष, मोह, आदि आन्तरिक विकारों को नष्ट

---

[1] भगवती शतक २५, उ० ७, पाठ १३,
तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९ सूत्र ३।

[2] भगवती शतक २५, उ० ७, सूत्र ८०३।

[3] " " " " " "

[4] " " " " " "

करने की ओर इन विकारों से पीड़ित प्राणियों को कल्याण पथ की ओर आकृष्ट करने की मानसिक चिन्तना।

३. विपाकविचय—सुख में हर्ष, दुःख में विषाद की भावना त्याग कर कर्म-फल का चिन्तन करना।

४. संस्थानविचय—लोक की पुरुषाकार आकृति का, जगत् के स्वरूप का एवं द्रव्य गुण पर्याय का चिन्तन करना।

धर्मध्यान के चार विधेय रूप हैं, जिनके द्वारा मानसिक वृत्तियों को सत्त्वस्वरूपमय बनाया जा सकता है, जैसे—

१. पिण्डस्थध्यान—पिण्ड अर्थात् शरीर में स्थित आत्मा पर मनोवृत्ति को केन्द्रित करना पिण्डस्थ ध्यान है। इस ध्यान के अभ्यास में पाँच प्रकार की धारणाओं का प्रयोग करने से शीघ्र सफलता प्राप्त हो जाती है।

(क) पार्थिवी धारणा—मध्यलोक को क्षीरसागर, उसके बीचों-बीच स्थित जम्बू-द्वीप को स्वर्णकमल और उसके भी मध्य में स्थित सुमेरू को कर्णिका के रूप में चिन्तन करे। फिर उसके ऊपर स्फटिक के श्वेत सिंहासन पर अपने विराजमान होने का चिन्तन करना चाहिए। 'मैं कर्मों को भस्म कर डालने के लिए, और अपनी आत्मा को प्रकाशमय-निष्कलंक बनाने के हेतु आसीन हूँ।' इस प्रकार का चिन्तन करना पार्थिवी धारणा है।

(ख) आग्नेयी धारणा—पार्थिवी धारणा के पश्चात् वहीं सुमेरू पर स्थित साधक अपनी नाभि के भीतर के स्थान में, हृदय की ओर ऊँचे उठे हुए और फैले हुए सोलह पत्तों वाले कमल का चिन्तन करे। प्रत्येक पत्ते पर पीत वर्ण से सोलह स्वर लिखे हों। कमल की श्वेत कर्णिका पर पीले वर्ण का 'ईं' लिखा हुआ सोचना चाहिए।

इस कमल के ठीक ऊपर औंधा, आठ पत्तों वाला दूसरा मटिया रंग का कमल विकल्पित करना चाहिए। उसके प्रत्येक पत्ते पर काले रंग से लिखे हुए आठ कर्मों की कल्पना करनी चाहिए।

तत्पश्चात् नाभि के कमल में बने हुए अक्षर 'ईं' के रेफ से धूम उठने की कल्पना करनी चाहिए, और फिर अग्निज्वाला निकलने की। फिर सोचना चाहिए कि अग्निज्वाला क्रमशः वृद्धिगत हो रही है, ऊपर के कमल में स्थित आठ कर्मों को दग्ध कर रही है, फिर वह ज्वाला कमल के मध्य में छेद करके ऊपर

मस्तक तक आ पहुँची है, उसकी एक रेखा दाहिनी ओर, और दूसरी बाईं ओर निकल रही है, फिर नीचे की ओर आकर दोनों कानों को मिलाकर एक अग्निमयी नयी रेखा बन गई है। अर्थात् ऐसा चिन्तन करे कि अपने शरीर के बाहर तीन कोण वाला अग्नि-मण्डल बन गया है।

तीनों लकीरों में से प्रत्येक में 'र' अक्षर लिखा हुआ सोचे। तत्पश्चात् त्रिकोण से बाहर, तीन कोणों पर अग्निमय स्वस्तिक लिखा हुआ तथा भीतर तीन कोणों में प्रत्येक पर 'ॐ अर्हं' अग्निमय लिखा हुआ सोचे। तदनन्तर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि अग्निमण्डल, भीतर आठ कर्मों को जला रहा है और बाहर इस शरीर को भस्म कर रहा है। समस्त कर्म और शरीर जल कर राख हो गए हैं, और अग्नि शान्त हो गई है। इस प्रकार का चिन्तन करना आग्नेयी धारणा है।

(ग) वायवी धारणा—आग्नेयी धारणा का चिन्तन करने के पश्चात् साधक को यह धारणा करनी चाहिए। इसका स्वरूप यों है—चारों ओर वेग के साथ वायु वह रही है। मेरे चारों ओर वायु ने गोल मण्डल बना लिया है। वह वायु दग्ध हुए कर्मों की तथा शरीर की राख उड़ा रही है और आत्मा को स्वच्छ कर रही है।

(घ) वारुणी धारणा—जल का विचार करना वारुणी धारणा है, वायवी धारणा के अनन्तर इसका चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए—गगन मेघमण्डल से व्याप्त हो गया है। बिजली चमक रही है। मेघगर्जना होने लगी है, और मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई है। मैं मध्य में स्थित हूँ। मेरे ऊपर अर्ध चन्द्राकार जल-मण्डल है। यह जल पाप-मल का प्रक्षालन कर रहा है। आत्मा निर्मल बनता जा रहा है।

(ङ) तत्त्वरूपवती धारणा—वारुणी धारणा के पश्चात् ऐसा चिन्तन करना चाहिए—कर्ममल हट जाने से मैं शुद्ध, बुद्ध, अशरीर, अकर्मा, ज्योतिःपुंज हो गया हूँ।

२. पदस्थ स्थान—नमस्कार-महामन्त्र के पाँच पदों पर चित्तवृत्ति एकाग्र करना पदस्थध्यान है।

३. रूपस्थ-ध्यान—सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक महिमा से सुशोभित अर्हन्त भगवान् का अवलम्बन लेकर उन पर चित्तवृत्ति केन्द्रित कर लेना, रूपस्थ ध्यान है।

४. रूपातीत ध्यान—निरंजन, निर्विकार, अमूर्त्त, अशरीर, सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है।

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में धर्म-ध्यान का सूचन किया गया है। पिण्डस्थ ध्यान से आरम्भ करके रूपातीत ध्यान का अभ्यास करने से मन की चंचलता मिट जाती है, और आत्मा विशुद्ध होती है।

धर्मध्यान आत्मा की विकास-अवस्था का द्योतक है। इस ध्यान से भी कषाय का पूर्णतया नाश नहीं होता। धर्मध्यान की स्थिति सातवें गुणस्थान तक ही है। आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान की अवस्था आती है। शुक्लध्यान के प्रयोग से समस्त कषाय निर्मूल हो जाते हैं, कर्माशय हल्का होकर क्रमशः सर्वथा जीर्ण हो जाता है। यह सर्वोत्तम ध्यान है, परम समाधि है। इस ध्यान में भी एक प्रकार की तारतम्य होता है, जिसके आधार पर उसके चार भेद किए गए हैं। वह इस प्रकार हैं—

(४) शुक्लध्यान—[1]शुक्लध्यान की प्राथमिक अवस्था पृथक्त्व वितर्क सविचार अवस्था कहलाती है। यहाँ वितर्क का अर्थ है 'श्रुत' और विचार का अर्थ पदार्थ, शब्द और योग का संक्रमण होना है। अभिप्राय यह है कि इस ध्यान के प्रयोग में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और मन आदि योगों का परिवर्तन होता रहता है। फिर भी यह सब एकाग्रता आत्मस्थ ही होती है।

इसके पश्चात् जब ध्यान में कुछ अधिक परिपक्वता आती है, तो किसी एक ही वस्तु का ध्यान होने लगता है। पदार्थ, शब्द और योग का संक्रमण रुक जाता है। उस समय का ध्यान एकत्व वितर्क अविचार शुक्लध्यान कहलाता है।[2]

मन, वचन, काय के स्थूल योगों का निरोध कर देने पर सिर्फ श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है, उस समय का ध्यान सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति, शुक्लध्यान है।[3] इस ध्यान के पश्चात् जब सूक्ष्म क्रिया का भी सर्वथा अभाव हो जाता है, और आत्मप्रदेश सुमेरू की तरह अचल हो जाते हैं, उस समय का सर्वोत्कृष्ट ध्यान 'व्युपरतक्रियानिवर्त्ति शुक्लध्यान' कहलाता है। इस ध्यान के

---

[1] प्रज्ञापना, पद १, चारित्रार्य विषय।

[2] भगवती शतक २५, उ० ७, सूत्र ८०३।

[3] " " " " " "

प्रभाव से अत्यल्प काल में ही पूर्ण सिद्धि–विदेह अवस्था–की प्राप्ति हो जाती है। निर्विकल्प समाधि का यह सर्वोत्कृष्ट रूप है।[1]

आठ समाधि, शुक्लध्यान के चार भेदों में ही समाधि का पूर्ण समावेश हो जाता है। जैनाचार्यों ने योग का सर्वाङ्गरूप—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, और परा, इन सप्त दृष्टियों के क्रमिक-विकास में भी प्रतिपादित किया है। जैन धर्म में योग और उसकी साधना महान् है। तत्त्वचिन्तन और प्रशस्त-भाव से उसकी प्राप्ति होती है। समाधि का शब्दों द्वारा वर्णन करना कठिन है, वह अनुभवजन्य ज्ञान है। हठयोग की साधना में तो उसे रहस्यमय तत्त्व बताया गया है क्योंकि इडा व पिंगला नाड़ियां ही शारीरिक चैतन्य का आधार हैं, ध्यानावस्था में योगी शरीर की सुध-बुध भुलाकर इड़ा व पिंगला को सुषुम्णा में विलय कर देता है। सुषुप्ति अवस्था भी इसे ही कहते हैं। किन्तु योगी त्राटक द्वारा नेत्र मूंद कर भ्रूमध्य में टिमकने वाले कृष्ण बिन्दु को एकाग्रता से तोड़कर प्रकाश व संगीत का आस्वाद लेता है। ये सब आत्मानुभव की प्राथमिक सीढ़ियाँ हैं। जैन धर्म समता शब्द द्वारा उसी स्थिति को कायोत्सर्ग कर भ्रू मध्य में ध्यानस्थ होकर समाधि के आनन्द का विधान करता है।

* * *

---

[1] प्रज्ञापना पद १, चारित्रार्य विषय।
स्थानांग, सूत्रवृत्ति, स्था० ४, उ० १, सूत्र २४७।

उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोत्थ लग्गई ।।
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा काम लालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ।।

—उत्तराध्ययन, अ० २५, गा० ४२-४३ ।

'हे साधक जिस प्रकार एक सूखी मिट्टी का और एक गीली मिट्टी का गोला दीवार में फेंका जाय, तो गीला गोला दीवार से चिपक जाता है, सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो काम-लालसा में आसक्त, और दुष्ट-बुद्धि वाले मनुष्य होते हैं उन्हीं को संसार का बंधन होता है और जो काम-भोग से विरत होते हैं, उन को बंधन नहीं होता।'

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

चौदह गुणस्थान

आत्मा की क्रमिक उत्क्रान्ति—जैनधर्म का मन्तव्य है कि विश्व में अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं और उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, वे किसी एक विराट् सत्ता का अंश नहीं हैं, हाँ, सभी आत्माओं का मूल स्वभाव समान है, उसमें कोई विलक्षणता नहीं, भेद नहीं, फिर भी उनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् ही है।

प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वरूप एक होने पर भी संसार की आत्माओं में जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह औपाधिक है। कर्मों के आवरण की तरतमता के कारण ही आत्मा-आत्मा में भेद दिखाई देता है। आवरण की तरतमता अनन्त प्रकार की है, अतएव आत्मा के स्वाभाविक गुणों के विकास और ह्रास की दशाएँ भी अनन्त हैं। फिर भी ज्ञानियों ने उन दशाओं का वर्गीकरण किया है और वह भी अनेक प्रकार से—

एक वर्गीकरण के अनुसार विकास-दशा की दृष्टि से आत्माएँ तीन प्रकार की होती हैं—

१. बहिरात्मा – (मिथ्यादर्शी)
२. अन्तरात्मा – (सम्यग्दर्शी)
३. परमात्मा – (सर्वदर्शी)

जैनशास्त्रों में इन तीन प्रकार की आत्माओं की भी चौदह भूमिकाएँ बतलाई गई हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। पहली से तीसरी भूमिका तक का जीव बहिरात्मा कहलाता है। सामान्यतया चौथी से बारहवीं भूमिका वाला, अन्तरात्मा कहलाता है और तेरहवीं तथा चौदहवीं वाला परमात्मा।

गुणस्थान जैनधर्म की मौलिक देन है। चौदह गुणस्थान में आत्मा की समस्त विकास-ह्रास की अवस्थाओं के चित्र दिखलाये गए हैं। इनमें संसार की सब आत्माओं का समावेश हो जाता है। किसी भी आत्मा की कोई भी अवस्था क्यों न हो, उसका अन्तर्भाव किसी-न-किसी गुणस्थान में हो ही जाता है।

यहाँ गुण का अर्थ है—'आत्मा की विशेषता'। आत्मा की विशेषताएँ पाँच प्रकार की हैं, जिन्हें जीव का भाव भी कहते हैं।

१. कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव 'औदयिक',

२. कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला भाव 'क्षायिक',

३. कषाय के शमन से उत्पन्न होने वाला भाव 'औपशमिक',

४. क्षयोपशम से होने वाला भाव 'क्षयोपशमिक' तथा

५. जो कर्मों के उदय आदि से उत्पन्न न होकर स्वाभाविक हो, वह 'पारिणामिक' भाव कहलाता है।

यह पाँच प्रकार के जीव के भाव, यहाँ गुण कहे गए हैं। इन गुणों के स्थानों, अर्थात् भूमिकाओं को गुणस्थान समझना चाहिए।

आत्मा के विकास-प्रवाह को कोई विभक्त नहीं कर सकता, तो भी सुगमता के लिए उसका विभाजन किया गया है। उसी विभाजन के अनुसार चौदह गुणस्थान इस प्रकार हैं—

१. मिथ्यात्वगुणस्थान — मिथ्यादृष्टि।
२. सास्वादन गुणस्थान — सासादनसम्यग्दृष्टि।
३. मिश्रगुणस्थान — सम्यग्-मिथ्यादृष्टि
४. अविरत्तसम्यग्दृष्टि — असंयत सम्यग्दृष्टि।
५. देशविरति — संयतासंयत।
६. सर्वविरति गुणस्थान — प्रमतसंयत।
७. अप्रमत गुणस्थान — अप्रमतसंयत
८. अपूर्वकरण —
९. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान — अनिवृत्ति वादरसाम्पराय।
१०. सूक्ष्मसम्पराय —

११. उपशान्तमोह गुणस्थान – उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ।
१२. क्षीणमोह – क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ।
१३. सयोगिकेवली – सशरीरमुक्त (जीवन्मुक्त)
१४. अयोगिकेवली – अशरीरीसिद्ध (पूर्णमुक्त)

१. **मिथ्यात्वगुणस्थान**—जब आत्मा में यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोध के स्थान पर अयथार्थ आग्रह से एकान्तता का अभिनिवेश, पक्षान्धता आदि दुर्गुणों का समावेश होता है, उस समय की जीव की स्थिति मिथ्यात्त्वगुणस्थान है।

मिथ्यात्त्वी सत्य को असत्, धर्म को अधर्म और कल्याण को अकल्याण मानता है। वह आत्मिक साधना के विषय में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य होता है। जीव की यह मूढ़ दशा अथवा विकारों की विपरीत दशा मिथ्यात्त्व है।

संसार की अधिकांश आत्माएँ इसी गुणस्थान में हैं। यद्यपि आत्मा के क्रमिक विकास में मिथ्यात्त्व को गुणस्थान का पद नहीं मिलना चाहिए, मगर 'गुण' शब्द साधारण है और उसमें लौकिक व अलौकिक सभी का समावेश होता है, इस कारण उसे भी गुणस्थान ही कहा है। यही आत्मसाधना की प्राथमिक भूमिका है। यहीं से आत्मा मिथ्यात्त्व का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करके चतुर्थ गुणस्थान पर पहुँचती है।

क्षय का अर्थ है 'नष्ट करना' और उपशम का अर्थ है 'शान्त करना' 'दबा देना'। यह ध्यान रखना चाहिए कि मिथ्यात्त्व का क्षय करके सम्यक्त्व की ओर आगे बढ़ने वाली आत्मा का फिर सम्यक्त्व से पतन नहीं होता, मगर उपशम करके आगे बढ़ने वाली आत्मा का पतन अवश्यंभावी है।

२. **सास्वादन-गुणस्थान**—जिस आत्मा ने मिथ्यात्त्व का क्षय-विनाश नहीं किया था, किन्तु मिथ्यात्त्व को शान्त करके सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त की थी, उसका दबाया हुआ मिथ्यात्त्व थोड़ी-सी देर में फिर उभर आता है और वह आत्मा सम्यक्त्व से पतित हो जाती है, जब वह सम्यक्त्व से गिर जाती है परन्तु मिथ्यात्व की भूमिका पर नहीं पहुँच पाती, पतन के पथ पर बढ़ रही है, फिर भी सम्यक्त्व का किंचित् रसास्वादन कर रही है, उस समय की आत्मा की दशा सास्वादन गुणस्थान है। यह स्थिति बहुत थोड़ी देर तक ही रहती है।

३. **मिश्र गुणस्थान**—किसी-किसी आत्मा में ऐसे अर्धसत्य-मिश्रित अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं, जिनमें सत्य और असत्य दोनों का ही मिश्रण होता है। वह दोलायमान अवस्था मिश्र गुणस्थान कहलाती है। यह गुणस्थान मिथ्यात्व से ऊँचा है, किन्तु पूर्ण विवेक के अभाव में सत्य के प्रति दृढ़ प्रतीत नहीं होने से इसमें स्थिति डावांडोल रहती है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—सम्यग्दर्शन विघातक मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम करके जिस आत्मा ने सम्यग्दर्शन-शुद्ध श्रद्धा की प्राप्ति कर ली है, किन्तु चारित्र विघातक-मोहनीय कर्म का क्षय न कर सकने के कारण जो व्रत अंगीकार नहीं कर सकती, उस आत्मा की अवस्था अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाती है।

सम्यग्दर्शन क्या है? यह अन्यत्र बतलाया जा चुका है। मुक्ति के तीन कारणों में यह अनन्यतम है। यहाँ से मुक्ति की साधना आरम्भ होती है। अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव भले संयम का आचरण नहीं कर सकता, फिर भी उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह आत्मा-अनात्मा एवं हित-अहित के विवेक से सम्पन्न होता है। भोगों से पिण्ड नहीं छुड़ा पाता, फिर भी उनमें अलिप्त रहता है। वह अपने विचारों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। आर्त जीवों की पीड़ा देखकर उसके हृदय से करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होने लगता है। उसका लक्ष्य और बोध शुद्ध हो जाता है और वह संयम के पथ पर चलने को उत्कंठित रहता है।

५. देशविरति गुणस्थान—वही सम्यग्दृष्टि जीव जब अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का आंशिक रूप से पालन करने में समर्थ हो जाता है—गृहस्थधर्म का आचरण करने लगता है, सूक्ष्म पाप का त्याग न कर सकने पर भी स्थूल पाप का त्याग कर देता है, तब वह इस गुणस्थान में पहुँचता है। इस गुणस्थान वाले के चारित्र का स्वरूप चारित्र के प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है।

६. प्रमत्तगुणस्थान—आत्मा को अपनी हीनता पर विजय पाने का विश्वास हो जाता है, तब वह अपनी अपूर्णताओं को समाप्त करके सर्वतः महाव्रती बन जाता है, सूक्ष्म पापों का भी परित्याग कर देता है। उस समय वह प्रमतगुणस्थान में होता है। साधक इस गुणस्थान में साधु तो बन जाता है, किन्तु प्रमाद के बल को समाप्त नहीं कर पाता।

प्रमाद पाँच प्रकार का है जैसे कि :—

आलस्य, कषाय, निद्रा, विकथा, इन्द्रिय-भोगों के कारण कर्त्तव्य के प्रति मन में अनादर का भाव उत्पन्न होना प्रमाद है। अर्थात्—

१. मद्य – मादकता-सम्बन्धी।
२. विषय – मोह और कामुकता के जनक रूप, रस आदि।
३. कषाय – क्रोध, मान, कपट, लोभ।

४. निद्रा — आलस्य।

५. स्त्री, भोजन आदि के विषय में निष्प्रयोजन बातें करना।

सम्यग्दृष्टि और व्रती होने पर भी प्रमाद का अस्तित्त्व होने से इसे प्रमत्तगुणस्थान कहते हैं।

७. अप्रमत्तगुणस्थान—आत्मार्थी साधक की परम पवित्र भावना के बल पर कभी-कभी ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि अन्तःकरण में उठने वाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है। वह आत्मचिन्तन में सावधान रहता है। उस समय की स्थिति अप्रमतगुणस्थान है। यह दो प्रकार के होते हैं—

१. स्वस्थान अप्रमत्त, २. सातिशय अप्रमत्त।

स्वस्थान अप्रमत साधक छठे गुणस्थान से सातवें में बार-बार चढ़ता और फिर छठे में उतरता है। जब आत्मिक तल्लीनता की स्थिति में पहुंचता है तो सातवें गुणस्थान पर चढ़ जाता है और जब वह तल्लीनता नहीं रहती और गमनागमन, भाषण, भोजन आदि बाहर की किसी क्रिया में व्याप्त होता है तो छठे गुणस्थान में उतर आता है। किन्तु भावों का रूप अत्यन्त शुद्ध बन जाता है तो साधक सातिशय अप्रमत होकर अस्खलित गति से ऊपर चढ़ता है। उस समय वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है।

सातिशय अप्रमत्त साधु के ऊपर चढ़ने के भी दो प्रकार हैं—जिन्हें आगम की परिभाषा में उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी कहते हैं।

जो साधक चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ और ऊपर चढ़ता है, वह आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुंचता है, किन्तु वहाँ उसकी प्रगति रुक जाती है और वह नीचे गिरता है, शान्त हुए कर्म फिर जागृत हो जाते हैं, अतः उसे नीचे आना ही पड़ता है; किन्तु जो साधक मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ ऊपर चढ़ता है, वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुंचकर तेरहवें गुणस्थान में जा पहुंचता है और परमात्मदशा प्राप्त कर लेता है।

८. अपूर्वकरण—यहाँ करण का अभिप्राय अध्यवसाय, परिणाम या विचार है, अभूतपूर्व अध्यवसायों का उत्पन्न होना अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म का विशिष्ट क्षय या उपशम करने से साधक को विशिष्ट भावोत्कर्ष प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में विभिन्न समयवर्ती जीवों

के परिणामों में विसदृशता अथवा एक समयवर्ती जीवों में विसदृशता और कभी सदृशता भी पाई जाती है।

९. **अनिवृत्तिकरण**—सातवें गुणस्थान में जब सातिशय अप्रमत अवस्था आती है तो साधक के परिणाम उत्कृष्ट हो जाते हैं, किन्तु इस स्थान में उत्पन्न हुए भावोत्कर्ष की निर्मल विचारधारा और भी तीव्र हो जाती है। इस गुणस्थान में विचारों की तरतमता नष्ट हो जाती है। विचारों की सामान्यगामिनी वृत्ति केन्द्रित और सम समान हो जाती है। यहाँ साधक की सूक्ष्मतर और अव्यक्ततर काम-सम्बन्धी वासना, जिसे वेद भी कहते हैं, समूल विनष्ट हो जाती है।

१०. **सूक्ष्मसम्पराय**—मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त कषाय को नष्ट कर देता है, केवल लोभ का अतिशय सूक्ष्म अंश ही शेष रह जाता है। उसी आत्मोत्कर्ष की ऊँची अवस्था का नाम सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है।

११. **उपशान्तमोह गुणस्थान**—कोई योद्धा शत्रु-सेना को नष्ट करके किसी प्रयोग से थोड़ी देर के लिए बेहोश करता हुआ उसके व्यूह में प्रवेश करता है। उसकी क्या स्थिति होती है? शत्रु-सेना थोड़ी देर में होश में आकर उसे घेर लेती है और उसका फल है उस योद्धा का अन्त होना। इसी प्रकार जो साधक मोहनीय कर्म को नष्ट (क्षीण) न करके, सिर्फ उपशान्त करके आगे बढ़ता है, उसका भी अवश्य पतन हो जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसा साधक थोड़ी-सी देर इस ग्यारहवें गुणस्थान में रहकर और समस्त मोह को पूर्ण रूप से उपशान्त करके भी नीचे गिर जाता है।

१२. **क्षीणमोह गुणस्थान**—मोहकर्म क्षय करता हुआ आत्मा, दसवें गुणस्थान में अवशिष्ट लोभांश का भी जब क्षय कर देता है और पूर्ण वीतरागता के उच्च शिखर पर आसीन हो जाता है, तो इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

मोहकर्म समस्त कर्मों में प्रधान है, और वही समस्त कर्मों को आश्रय दिया करता है, बारहवें गुणस्थान में उसके क्षीण होने पर थोड़ी-सी देर में ही में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीन कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

१३. **सयोगी केवली गुणस्थान**—ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के क्षय हो जाने से इस गुणस्थान में आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आध्यात्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। यह जीवनमुक्त की दशा है।

इस गुणस्थान में सयोग शब्द जोड़ने का अभिप्राय यह है कि मन, वचन और काय का यहाँ व्यापार-स्पन्दन होता रहता है।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान—इस गुणस्थान का काल अत्यन्त थोड़ा है। अ, इ उ, ऋ, लृ, इन पाँच ह्रस्व-स्वरों का मध्यम वेग से उच्चारण करने में जितना समय लगता है, बस उतना ही इस गुणस्थान का समय है। इस गुणस्थान में काय और वचन का व्यापार तो निरुद्ध हो ही जाता है; पर मानसिक वृत्तियाँ भी पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थिर हो जाता है। संसार-दशा का अन्त हो जाता है। शेष चारों नाम, गोत्र, अन्तराय और आयुष्य आदि अघातिक कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

गुणस्थान का अन्त होना ही जन्म-मरण का अन्त होना है। आत्मा विदेह अवस्था प्राप्त कर शाश्वत मुक्तिं प्राप्त कर लेती है।

गुणस्थानों के सम्बन्ध में विचार करने से आत्मा के उत्क्रान्ति क्रम की कल्पना आ सकेगी। प्रत्येक आत्मा पहले-पहल प्राथमिक भूमिका में होता है। तत्पश्चात् आत्मबल प्रकट होने पर उभर आता है। चतुर्थ भूमिका में आने पर उसकी दृष्टि यथार्थ हो जाती है। दृष्टि सिद्ध होने के पश्चात् वह क्रियात्मक रूप से मुक्तिपथ पर चलना आरम्भ करता है और बारहवें गुणस्थान में निरावरण होकर तेरहवें गुणस्थान में सशरीर परमात्मा बन जाता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में मुक्तिधाम प्राप्त कर लेता है।

उत्क्रान्ति के इस क्रम से यह भी स्पष्ट होगा कि जैनधर्म ने किसी एक को अनादि सिद्ध परमात्मा स्वीकार नहीं किया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ द्वारा परमात्मपद पाने का अधिकारी है।

* * *

'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणय सुहाणय।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिये, सुपट्ठिओ !'

आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने, और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र (शत्रु) है।

—उत्तराध्ययन २०, ३७।

मानव अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। अदृष्ट अथवा किसी अन्य प्रकार की रहस्यात्मक सत्ता की पराधीनता को जैनधर्म स्वयं एक मानसिक दासता समझता है। शुभ-कर्म और अशुभ-कर्म फल देने की शक्ति स्वयं रखते हैं। जैसे परमाणु और परमाणुओं के परिवर्तन की शक्ति परमाणु से भिन्न किसी सत्ता के पास में नहीं होती है। परिवर्तित होना, यह तो परमाणु का ही स्वयं का गुण है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर, देव आदि किसी के माध्यम और किसी के अनुग्रह पर हमारा भाग्य अवलम्बित नहीं हैं और अपने भाग्य का विधान हमने स्वयं निर्माण किया है। हमारी क्रिया, हमारे यौगिक-स्पन्दन, काषायिक संस्पर्श तथा हमारा वातावरण और भावना की मंदता या तीव्रता, कर्म के परमाणुओं का हमारी आत्मा के साथ में बन्धन जोड़ते हैं, जो अवसर प्राप्त होते ही हमारे अन्तर्मन को फल की ओर प्रेरित कर देते हैं। यह निश्चित है कि जैनधर्म आत्मा को कर्म करने में स्वतंत्र मानता है, किंतु भोगने में आत्मा कर्मों के आधीन हो जाती है। 'शुभ करो, शुभ होगा'—'अशुभ करो, अशुभ होगा' यही कर्मवाद का सिद्धान्त है।

कर्मवाद

कर्मवाद

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता अंगीकार की है जो जीवतत्त्व को प्रभावित करती है । उसे स्वीकार किये बिना जीवों में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली विषमता की, तथा एक ही जीव में विभिन्न कालों में होने वाली विरूप अवस्थाओं की संगति किसी भी प्रकार संभव नहीं है । सब जीव स्वभावतः समान हैं तो एक मनुष्य और दूसरा कीट के रूप में क्यों है ? अगर जीव नित्य है तो मृत्यु उसे क्यों अपना शिकार बना लेती है ? अगर विराट् चैतन्य उसका स्वरूप है तो जड़ता और अज्ञान के गहन अंधकार में जीव क्यों ठोकरें खा रहा है ? अमूर्त्त है तो शरीर के कारागार में क्यों बद्ध है ? इस प्रकार की प्रश्नमाला जीव-विरोधी दूसरी सत्ता को स्वीकार किये बिना समाधान नहीं पाती ।

वह सत्ता वेदान्त में माया या अविद्या, सांख्य में प्रकृति और वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट नाम से अँगीकार की गई है । जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है । प्रत्येक दर्शन में उस सत्ता का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का है । किन्तु जैनदर्शन में कर्म का जैसा सांगोपांग और तर्क-संगत विवेचन है, वह अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता । जैनाचार्यों ने कर्म-सिद्धान्त पर विपुल साहित्य-सृजन किया है ।

पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियाँ हैं, जिन्हें जैनपरिभाषा में वर्गणाएं कहते हैं । उनमें एक कार्मण-वर्गणा भी है और वही कर्म-द्रव्य है । कर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोक

में सूक्ष्म रज के रूप में व्याप्त है। वही कर्मद्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ वद्ध हो जाते हैं और 'कर्म' कहलाने लगते हैं।

कर्म विजातीय द्रव्य होने के कारण आत्मा में विकृति उत्पन्न करते हैं, और उसे पराधीन बनाते हैं। आत्मा—पर पदार्थों का उपभोग करता हुआ—राग-द्वेष के कारण किसी को सुखरूप और किसी को दुःखरूप मानता है। सुख-दुःख की वह अनुभूति तो तत्काल ही समाप्त हो जाती है, किन्तु अवशिष्ट रहे हुए संस्कार समय आने पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं।

संसार के प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष की वृत्ति काम करती है। वही प्रवृत्ति अपना एक संस्कार छोड़ जाती है। उस संस्कार से पुनः प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से पुनः संस्कार का निर्माण होता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की तरह यह सिलसिला सनातन काल से चला आ रहा है।

कर्म सिद्धान्त की भाषा में यही बात यों कही जाती है—कर्म दो प्रकार के हैं[1]—

१. द्रव्यकर्म (कर्मवर्गणाएं) और भावकर्म अर्थात् राग-द्वेष आदि विषय भाव। दोनों में द्विमुख कार्य-कारण भाव है। द्रव्यकर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। आशय यह है कि पूर्ववद्ध द्रव्यकर्म जब अपना विपाक देते हैं तो जीव में भावकर्म—रोषादि विभाव—उत्पन्न होते हैं और उन भाव-कर्मों से पुनः द्रव्यकर्म उत्पन्न हो जाते हैं। यह क्रम अनादि है, परन्तु उसका अन्त हो सकता है।

कर्मवद्ध आत्मा, विश्व की समस्त वस्तुओं को अनुकूल और प्रतिकूल मानकर दो भागों में बांट लेता है। वह कभी नहीं सोचता कि मैं संसार के जीवों के लिए अनुकूल हूँ या प्रतिकूल हूँ; किन्तु संसार के पदार्थजात को और प्राणीजाति को अवश्य दो भागों में विभक्त कर लेता है। उसकी विचार लहरियों की परिसमाप्ति यहीं नहीं हो जाती, अपितु वह अनुकूल समझे हुए पर राग करता है, और प्रतिकूल समझे हुए को संसार से मिटा देना चाहता है। यही राग-द्वेष वृत्तियों का उद्गमस्थल है। इन्हीं वृत्तियों से कर्मद्रव्यों का आकर्षण होता है और अनन्त-अनन्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जब तक आत्मा में राग-द्वेष की सत्ता है तब तक प्रत्येक क्रिया कर्म का रूप धारण कर आत्मा के लिए बन्धनकारक बनती ही जाएगी।

---

[1] द्रव्य-संग्रह, गा० ३१-३२।

फल देने के लिए कर्मों को किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं है, और न ही किसी की आज्ञा की आवश्यकता है। कोई मनुष्य मद्यपान करता है, तो उन्माद उत्पन्न करने के लिए मदिरा को किसी की सहायता नहीं चाहिए। उसके सेवन से ही मनुष्य में उन्मत्तता आ जाती है, दुग्धसेवन से पोषण मिलता है, भोजन से क्षुधानिवृत्ति होती है और पानी से तृषा शान्ति होती है। इन सब जड़ पदार्थों को अपना फल देने के लिए किसी अन्य सहारे की तलाश नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार जड़ होने पर भी कर्म स्वयं ही अपना फल प्रदान करते हैं।

कर्म करने की स्वतन्त्रता जीव को प्राप्त है, किन्तु फल देने की सत्ता कर्म अपने पास सुरक्षित रखता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि भोजन करते समय किसी प्रकार का अवांछनीय काषायिक आवेग, क्रोध आदि नहीं होना चाहिए और मानसिक सन्ताप के होने पर भोजन विष बन जाता है। भोजन के समय मन शान्त, प्रशस्त एवं मध्यस्थ हो तो भोजन अमृत बन जाता है। यही बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझी जा सकती है। अन्तःकरण में जैसे-जैसे शुभ या अशुभ, प्रशस्त या अप्रशस्त भाव होते हैं, उसी प्रकार का कर्म-रस बनता है, तो जैसे हमारे मनोवेग भोजन के रस को शुभ या अशुभ बना देते हैं, उसी प्रकार वे कर्मों को भी शुभ या अशुभ, रूप में परिणत कर देते हैं।

कर्मबन्ध का प्रधान कारण मन है, और उसके सहायक वचन तथा काय हैं। मन, वचन और काय की अनन्त-अनन्त वृत्तियाँ शुभ भी होती हैं और अशुभ भी होती हैं।[1] हिंसा, चोरी, मैथुन आदि काय के अशुभ व्यापार हैं दया, सेवा, ब्रह्मचर्य कषाय के शुभ व्यापार हैं (असत्य और कटु भाषण) वाणी का अशुभ व्यापार है और निरवद्य, सत्य एवं मधुर भाषण वाणी का शुभ व्यापार है। किसी के वध, बन्धन आदि का विचार करना मानसिक अशुभ व्यापार है और भलाई सोचना तथा पर का उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होना आदि शुभ व्यापार हैं। शुभ व्यापारों से पुण्य कर्म का और अशुभ व्यापार से पापकर्म का बन्ध होता है। परन्तु यह नहीं भूल जाना है कि शुभ अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं।

एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए, परन्तु डाक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गा० ३८।

भागी होगा। उसके विपरीत, वही डाक्टर अगर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डाक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।

कर्मबन्ध के मुख्य दो कारण हैं--कषाय और योग[२]। दूसरे सब कारण इन्हीं दो में अन्तर्भूत हो जाते हैं। दसवें गुणस्थान तक इन दोनों कारणों की सत्ता रहती है। आगे के गुण स्थानों में सिर्फ योग ही कारण होता है। अतएव जो कर्माणु कषायों और योग से बंधते हैं, वे साम्परायिक कर्म कहलाते हैं, और जो कषाय के अभाव में सिर्फ गमनागमन आदि क्रियाओं के कारण बंधते हैं, वे ईर्यापथिक कर्म कहलाते हैं।

उच्चकोटि के साधक की स्थिति कषायों की सीमा लांघकर समभावी भी हो जाती है और उस समय उसकी क्रिया भिन्न ही प्रकार की होती है। इस तथ्य को समझने के लिए जैनशास्त्रों में एक उदाहरण प्रसिद्ध है—

आत्मा को स्वच्छ दीवार, कषायों को गोंद और योग को वायु मान लिया जाय तो बन्ध की व्यवस्था सरलता से समझ में आ जायगी। आत्मा-रूपी दीवार पर जब कषायों का गोंद लगा रहता है तो योग की आँधी से उड़कर आई हुई कर्म-रूपी धूल चिपक जाती है। वह चिपक जितनी सबल या निर्बल होगी, बन्ध भी उतना ही प्रगाढ़ या शिथिल होगा और धूल श्वेत या काली जैसी भी होगी, वैसी चिपकेगी। हाँ, कषाय का गोंद यदि हट जाय और दीवार सूखी रह जाय तो धूल का आना-जाना तो नहीं रुकेगा, किन्तु चिपकना बन्द हो जाएगा। बस, यही अन्तर है साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मों में। कर्म परमाणुओं का आना योगशक्ति के बलाबल पर निर्भर है। किन्तु बन्धन की तीव्रता-मन्दता या चिपकन कषायों के भावाभाव पर निर्भर है।

बन्धतत्त्व के विवेचन में बतलाया जा चुका है कि स्थितिबन्ध और रस-बन्ध कषाय से होता है। जब कषायों की सत्ता नहीं रहती फिर न तो कर्म आत्मा में ठहरते हैं और न उनका अनुभव ही होता है, योग के विद्यमान रहने से कर्म आते तो हैं, मगर ठहर नहीं पाते हैं।

वास्तव में जन्म-मरण का मुख्य कारण कषाय है। कषाय के अभाव में

---

[२] जोग बंधे, कषाय बंधे।

योग लंगड़े से हो जाते हैं। कषायों का अन्त होते ही आत्मा की पूर्णता प्राप्त हो जाती है और घातिक कर्मों का विध्वंस हो जाता है।

घातिक और अघातिक शब्दों से कर्मों की आक्रमण-शक्ति और बर्बरता को तथा मन्दता को सूचित किया गया है। जीव की अनन्त ज्ञान दर्शन आदि शक्तियों का घात करने वाले कर्म घातिक कहलाते हैं। उनमें कुछ सर्वघाती होते हैं और कुछ देशघाती। कुछ कर्म ऐसे हल्के होते हैं जो जीव के गुण विकास में बाधक नहीं होते अथवा व्याघात नहीं पहुंचाते। वे अघातिक कहलाते हैं। उनकी विद्यमानता से सम्पूर्ण मुक्ति नहीं हो पाती, तथापि वे सहज ही नष्ट हो जाते हैं। वे जीवन्मुक्ति में बाधक नहीं होते हैं।

कर्मों का वर्गीकरण—कर्म मूलत: एक ही प्रकार के होने पर भी जीव के अध्यवसायों और मनोविकारों की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। अध्यवसाय और मनोविकार एक ही प्राणी के पल-पल में पलटते रहते हैं, अतएव उनकी कोई संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती है, फिर जगत् के जीव अनन्त हैं। क्योंकि कर्मों का स्वभाव, स्थितिकाल परिमाण और प्रभाव अध्यवसायों के अनुरूप ही निश्चित होता है। तथापि सुगमता से समझने के उद्देश्य से स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ विभाग किये गए हैं[1]—

१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

कर्मों का स्वभाव—

१. ज्ञानावरण—बादलों का बवंडर जैसे सूर्य को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार जो कर्म पुद्गल हमारे ज्ञानतन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरण स्वभाव वाले कहलाते हैं। ज्ञान पांच प्रकार के हैं, अतएव उसे आवृत करने वाला ज्ञानावरण कर्म भी पाँच प्रकार का है[2]—

१. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मनःपर्यायज्ञानावरण, ५. केवलज्ञानावरण।

२. दर्शनावरण—राजा के दरबार में जाते हुए पुरुष को जैसे द्वारपाल

---

[1] १. प्रज्ञापनासूत्र, पद २१, उ० १, सू० २९९

[2] २. उत्तराध्ययन, सूत्र अ० ३३, गा० २-३।

रोक देता है और राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो, वह दर्शनावरण कहलाता है।

ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु का निर्विशेष बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरण कर्म से आवृत करता है। यह नौ प्रकार का है[1]—

१. चक्षुदर्शनावरण—नेत्रशक्ति को अवरुद्ध करने वाला।

२. अचक्षुदर्शनावरण—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरोध करने वाला।

३. अवधिदर्शनावरण—सीमित अतीन्द्रिय दर्शन को रोकने वाला।

४. केवलदर्शनावरण—परिपूर्ण दर्शन को आवृत करने वाला।

५. निद्रा—सामान्य नींद।

६. निद्रा—निद्रा गहरी नींद।

७. प्रचला—बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा।

८. प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा।

९. स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बलसाध्य कार्य कर डालता है, जागृतिदशा की अपेक्षा अनेक गुणा अधिक बलवान् हो जाता है।

यह पांच प्रकार की निद्राएं, दर्शनावरण कर्म के उदय का फल हैं।

३. वेदनीय—तलवार की धार पर लगे शहद के समान सांसारिक सुख की और दुःख की वेदना इसी कारण होती है। इसके दो भेद हैं—साता-वेदनीय और असातावेदनीय।[2] सुख-रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असाता-वेदनीय कर्म कहलाता है।

४. मोहनीय—मोह एक उन्मादजनक विलक्षण मदिरा है, जो प्राणीमात्र को विवेक विकल बना देता है। यह दो प्रकार का है—

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय[3]—

सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना अथवा उसमें विकृति उत्पन्न करना, दर्शनमोहनीय कर्म का काम है। यह तीन प्रकार का है।[4]

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, स्थानांग सूत्र, स्थान ९ ९१८।

[2] उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३ प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३।

[3] उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३।

[4] उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३।

१. मिथ्यात्व मोहनीय	—सत्य में असत्य एवं अतत्त्व में तत्त्व की प्रतीति करना ।
२. सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय	—सत्य और असत्य में मिश्रित श्रद्धा रखना ।
३. सम्यक्त्व मोहनीय	—सम्यग्दर्शन में अशुद्धता पैदा करने वाला ।

चारित्रमोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है—कषाय-चारित्रमोहनीय और नौ कषाय चारित्रमोहनीय–क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं । इन चारों के भी चार-चार प्रकार हैं, जिनका वर्णन कषाय प्रकरण में किया जाएगा । इस प्रकार ४×४=१६ कषायों का जनक कषाय मोहनीयकर्म भी सोलह प्रकार का है ।[1]

कषाय को भड़काने वाली नौ मनोवृत्तियाँ हैं । जिन्हें नौ कषाय कहा गया है । वे ये हैं[2]—

१. हास्य	– जिससे हँसी आवे ।
२. रति	– अनुरक्ति-स्नेह राग ।
३. अरति	– जिससे अरुचि, द्वेष उत्पन्न हो ।
४. शोक	– जिसके कारण शोक का भाव उत्पन्न हो ।
५. भय	– जिसके कारण भीति उत्पन्न हो ।
६. जुगुप्सा	– जिसके कारण घृणा उत्पन्न हो ।
७. स्त्रीवेद	– जिसके कारण पुरुष से सहवास करने की इच्छा हो ।
८. पुरुषवेद	– जिसके कारण स्त्री से सहवास करने की इच्छा हो ।
९. नपुंसकवेद	– जिसके कारण स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की कामना उत्पन्न हो ।

यह सब मिलकर मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद हैं । यह कर्म प्राणी की वास्तविक श्रद्धा-विवेक को जागृत नहीं होने देता और साथ ही विविध प्रकार के मनोविकारों को उत्पन्न करके सम्यक् चारित्र को नहीं पनपने देता । मोहकर्म इतर कर्मों का जनक और बड़ा प्रबल है ।

---

[1] प्रज्ञापना सूत्र, पद २३, तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८, ९ ।

[2] प्रज्ञापना सूत्र, पद २३ तत्वार्थ सूत्र, अ० २ ।

५. **आयुकर्म**—लोहे की बेड़ी के समान है, जिसके खुले विना स्वाधीनता के सुख का अनुभव नहीं हो सकता। यह कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर में नियत अवधि तक कैद रखता है।[1] हमारी यह जीवित दशा इसी कर्म का फल है।

६. **नामकर्म**—चित्रकार विभिन्न रंग संजो-संजो कर अपनी तूलिका की सहायता से नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म जगत् के प्राणियों के नाना आकार प्रकार वाले शरीरों की रचना करता है। प्राणी सृष्टि में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य हमें दिखाई देता है, उसका कारण यही कर्म है। जैनागमों में इसके अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद दिखलाये गये हैं। उन सबका उल्लेख न करके यहाँ ४२ भेदों को ही बतला देना पर्याप्त होगा।[2]

१. गति नाम कर्म—जिसके प्रभाव से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकी चार गतियों में से एक गति पाता है।

२. जाति नाम कर्म—जिसके कारण जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्याय प्राप्त करता है।

३. शरीर नाम कर्म—जिससे जीव के पांच प्रकार के शरीरों में से गति के अनुरूप शरीर प्राप्त होते हैं।

४. अंगोपांग नाम कर्म—इस कर्म के प्रभाव से शरीर के अंगों और उपांगों का निर्माण होता है।

५. बन्धन नाम कर्म—यह वह कर्म है जिसके कारण पूर्व-गृहीत पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

६. संघात नाम कर्म— जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल व्यवस्थित रूप से स्थापित हो जाएं।

७. संहनन नाम कर्म—इससे शरीर के अस्थिपंजर की दृढ़ या शिथिल रचना होती है।

८. संस्थान नाम कर्म—इससे शरीर की नाना प्रकार की आकृतियां बनती हैं।

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना सत्र, २३।

[2] प्रज्ञापना सूत्र सं० २९३।

९. वर्ण नाम कर्म—इस कर्म से शरीर में गोरा-काला आदि रंग उत्पन्न होता है।

१०. गंध नाम कर्म—इस कर्म से शरीर में विशिष्ट गन्ध उत्पन्न होती है।

११. रस नाम कर्म—यह शरीर में रस उत्पन्न होने के कारण हैं।

१२. स्पर्श नामकर्म—इससे शरीर में किसी विशेष प्रकार का स्पर्श उत्पन्न होता है।

१३. आनुपूर्वी नाम कर्म—नया शरीर धारण करने के लिए जीव को किसी नियत स्थान पर पहुंचाने वाला।

१४. विहायोगति नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अच्छी या वरी हो।

यह चौदह भेद पिण्ड प्रकृतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक के अनेक भेदोपभेद होते हैं।

१५. अगुरुलघु नाम कर्म—हमारा शरीर शीशे (धातु) की तरह एकदम भारी और आक की रूई की तरह एकदम हल्का नहीं है, यह इस कर्म का फल है।

१६. उपघात नाम कर्म—अंगुली में छठी अंगुली की तरह "अपना ही अंग अपने को पीड़ा कारक होना", इस कर्म का फल है।

१७. पराधान नाम कर्म—जिसके फल स्वरूप शरीर के अवयव पर पीड़ाकारी न बनें।

१८. आतपनाम कर्म—उष्ण प्रकाश रूप शरीर बनाने वाला।

१९. शीतल प्रकाशमय—शरीर के निर्माण का कारण।

२०. उच्छ्वास नाम कर्म—हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं, वह इसी कर्म का अनुभव है।

२१. निर्माण नाम कर्म—जिससे अंग सुघड़ एवं यथायोग्य बनते हैं।

२२. तीर्थंकर नाम कर्म—वह कर्म, जिसके प्रभाव से जीव तीर्थंकर बनकर त्रिलोकपूज्य होता है। इनमें त्रसदशक और स्थावरदशक नाम से प्रसिद्ध बीस प्रकृतियाँ जोड़ देने से ४२ भेद होते हैं। वे प्रकृतियां ये हैं—

१. त्रस नाम कर्म—जिससे त्रस पर्याय प्राप्त हो।

२. वादर—जिससे अपेक्षाकृत स्थूल शरीर बने।

३. पर्याप्त–जिस कर्म के प्रभाव से पुनर्जन्म के समय नवीन शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर आदि की छः प्रकार से पूर्णता प्राप्त की जाय।

४. प्रत्येक–जिससे एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

५. स्थिर–यह कर्म अंगोंपांगों को अपने-अपने स्थान पर स्थिर बनाये रखता है।

६. शुभ–जिससे शुभ की प्राप्ति हो।

७. सुभग–सौन्दर्य प्राप्त कराने वाला।

८. सुस्वर–जिससे मधुर स्वर मिले।

९. आदेय–जिसके प्रभाव से दूसरों पर हमारी बात का असर हो।

१०. यशः कीर्ति–जिससे यशःकीर्ति का प्रसार हो।

स्थावर-दशक—१. स्थावर, २. सूक्ष्म, ३. अपर्याप्त, ४. साधारण, ५. अस्थिर, ६. अशुभ, ७. दुर्भग, ८. दुःस्वर, ९. अनादेय, १०. अयशः अकीर्ति।

नाम से ही स्पष्ट है कि यह दश कर्म पूर्वोक्त दशों से ठीक विपरीत हैं।

यह सब मिलकर नाम कर्म के बयालीस भेद हैं। वास्तव में नाम कर्म का कार्य शरीर की रचना करना, उसकी विभिन्न आकृतियाँ बनाना जीव को नवीन जन्म लेने के स्थान पर पहुंचाना, त्रस या स्थावर रूप देना, शरीर में किसी भी प्रकार का रंग-रूप आदि उत्पन्न करना, सुन्दर-असुन्दर स्वर बनाना, आदि-आदि हैं। यद्यपि रंग-रूप एवं स्वर आदि में बाहर के भी कारण अपेक्षित हैं, मगर अन्तरंग का कारण नाम कर्म ही है।

इस कर्म का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है, अतएव इसकी प्रकृतियों की संख्या भी अन्य कर्मों से अधिक है।

७. गोत्रकर्म—जैसे कुम्हार छोटे बड़े बर्तन बनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, वह गोत्रकर्म है। यह दो प्रकार का है—

१. उच्च गोत्र, २. और नीच गोत्र।[1]

---

[1] प्रज्ञापना सूत्र, पद २३-२, २९४।

८. अन्तराय कर्म—यह अभीष्ट की प्राप्ति में अड़ंगा लगा देने वाला कर्म है। यह पाँच प्रकार का है।[1]

१. दानान्तराय	—	जिसके कारण दान देने की इच्छा होने पर भी दान न दिया जा सके।
२. लाभान्तराय	—	लाभ में वाधा डालने वाला।
३. भोगान्तराय	—	भोग-प्राप्ति में वाधक।
४. उपभोगान्तराय	—	उपभोग (पुनः पुनः काम में आने वाली वस्त्रादि वस्तु) की प्राप्ति में वाधक।
५. वीर्यान्तराय	—	वीर्य-सामर्थ्य के विकास में वाधक।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कहलाते हैं और शेष चार अघातिक हैं।

आठ कर्मों के इस दिग्दर्शन से पाठक समझ सकेंगे कि कर्म का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जीव की सभी आन्तरिक वृत्तियाँ और साथ ही बाह्य आकृतियाँ कर्म का ही प्रताप हैं। जैन सिद्धान्त में कर्मों का वर्णन इतना व्यवस्थित है कि उसमें कहीं क्षति या न्यूनता नज़र नहीं आती।

कर्म-व्यवस्था के अन्तर्गत उनकी विभिन्न दशाओं को भी समझ लेना आवश्यक है। वे मुख्य रूप से दश हैं।[2]

१. वन्ध	—	कर्मों का आत्मा के साथ बद्ध होना और उनमें पहले कही हुई चार बातें—स्वभाव, काल, मर्यादा, प्रभाव और परिमाण उत्पन्न हो जाना।
२. उत्कर्षण	—	वद्ध हुए कर्मों की कालमर्यादा और फल-वृद्धि हो जाना।
३. अपकर्षण	—	काल-मर्यादा और फल में न्यनता हो जाना।

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३ तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८-१२।

[2] द्रव्य-संग्रह टीका, गा० ३३।

कभी-कभी ऐसा होता है कि प्राणी अशुभ कर्म का बन्ध करके शुभ विचार कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। उसके बाद के इस विचार और व्यवहार का असर पहले के अशुभ कर्मों पर पड़ता है और वह यह कि उनकी लम्बी काल-मर्यादा और विपाक-शक्ति में कमी हो जाती है। इसे अपकर्षण कहते हैं। कभी-कभी इससे विपरीत स्थिति में जीव कालमर्यादा और विपाक-शक्ति में वृद्धि भी कर लेता है, वही उत्कर्षण कहलाता है।

४. **सत्ता**——कर्म बन्धते ही अपना असर नहीं प्रकट करने लगते। जैसे मादक वस्तु का सेवन करते ही नशा नहीं आ जाता, धीरे-धीरे आता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध के पश्चात् बीच का नियत समय, जिसे अबाधाकाल कहते हैं, समाप्त होने पर ही कर्म का फल होता है। बन्ध होने के और फलोदय पर ही कर्म का फल होता है। बन्ध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं। जैनशास्त्रों में वह अवस्था 'सत्ता' के नाम से प्रसिद्ध है।

५. **उदय**——कर्म का फलदान उदय कहलाता है। अगर कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो तो वह फलोदय, और फल दिये बिना ही नष्ट हो जाए तो वह प्रदेशोदय कहलाता है।

६. **उदीरणा**——महीना-बीस दिन में वृक्ष पर पकने वाले फल को लोक कृत्रिम गर्मी पहुंचाकर एक ही दिन में पका लेते हैं, इसी प्रकार बन्ध के समय नियत हुई कालमर्यादा में कमी करके कर्म को जल्दी उदय में ले आना उदीरणा है।

अपकर्षण के द्वारा स्थिति घट जाती है और नियत समय आने से पहले ही जब आयु पूरी भोग ली जाती है, तो उसे लोक-व्यवहार में कालमृत्यु और शास्त्रीय परिभाषा में आयुकर्म की उदीरणा कहते हैं।

७. **संक्रमण**——एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं। एक कर्म अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। यह अदल-बदल में संक्रमण कहलाता है।

स्मरण रखना चाहिए कि मूल आठ कर्मों से एक कर्म पलट कर दूसरा कर्म नहीं बन सकता। पर एक ही कर्म की अवान्तर प्रकृति पलट सकती है। हां, इसमें दो अपवाद हैं। प्रथम यह कि आयुकर्म के अवान्तर भेदों का संक्रमण नहीं होता, मनुष्यायु अगर बन्ध चुकी है तो पलट कर वह देवायु, अन्य कोई आयु नहीं हो सकती। दूसरा अपवाद यह है कि दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय के रूप में नहीं पलटता, और चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय नहीं बनता।

८. उपशम--कर्मों को विद्यमान रहते भी उदय में आने के लिए अक्षम बना देना उपशम है। जैसे अंगार को राख से ऐसा दबा देना कि वह अपना काय न कर सके।

९. निधत्ति--कर्मों का संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

१०. निकाचना--कर्मों का ऐसे प्रगाढ़ रूप में बन्धना कि उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि न हो सके (इसमें भी विरल अपवाद हो सकता है)।

कर्मक्षय से लाभ—जो कर्म आत्मा की जिस शक्ति को नष्ट करता, न्यून करता या विकृत करता है, उसके क्षय से वही शक्ति प्रकट होती, पूर्ण होती या शुद्ध होती है। सुगमता के लिए उसका निर्देश कर देना अनुचित न होगा।

१. ज्ञानावरण के हटने से अनन्त ज्ञानशक्ति प्रकट होती है।

२. दर्शनावरण के हटने से अनन्त दर्शनशक्ति जागृत होती है।

३. वेदनीय का क्षय अनन्त सुख प्रकट करता है।

४. मोहनीय के क्षय से परिपूर्ण सम्यक्त्व और चारित्र का आविर्भाव होता है।

५. आयुकर्म के क्षय से अजर-अमरता की अनन्तकालीन स्थिति प्राप्त होती है।

६. नामकर्म के क्षय से अमूर्त्तत्व गुण प्रकट होता है। जिसे अनन्त मुक्तात्मा एक ही जगह अवगाहन कर सकते हैं।

७. गोत्र कर्म से अगुरुलघुत्व गुण प्राप्त होता है।

८. अन्तराय के क्षय से अनन्त शक्ति व विपुल लाभ प्राप्त होती है।

९. कर्म-बन्ध और कर्म-क्षय की प्रक्रिया का वर्णन तत्वचर्चा में किया जा चुका है।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया

आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है। वह उत्पाद और विनाश से रहित होने पर भी परिणामी है। बाह्य और आन्तरिक कारणों से उसमें अनेक पर्याय उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। ऐसा न होता तो पुनर्जन्म भी सम्भव न होता और पुण्य-पाप के फलस्वरूप होने वाले सुख-दुःख का भोग भी संगत न होता।

यों तो परिणाम की धारा अविराम गति से प्रवाहित हो रही है, कोई क्षण नहीं जिसमें मूल अवस्था का सूक्ष्म परिवर्तन न होता हो, फिर भी सब से

स्थूल परिवर्तन पुनर्जन्म का है। आत्मा अपने वर्तमान शरीर का परित्याग करके नूतन शरीर ग्रहण करती है। यही पुनर्जन्म है।

पुनर्जन्म के सम्वन्ध में एक विचारक ने लिखा है कि—'मनुष्य इकाई नहीं है, परन्तु अनेकता का पुञ्ज है, वह सुषुप्त है, वह स्वयं चालित है। वह भीतर से असंतुलित है, उसे जागना चाहिए। एक होना चाहिए, अपने आप संश्लिष्ट और मुक्त होना चाहिए। मनुष्य की कल्पना एक बीज से की जाती है, जो कि बीज के नाते मर जायेगा, और पौध के रूप में पुनर्जीवित होगा। गेहूँ की दो ही सम्भावनाएं हैं, या तो वह पिस कर आटा वन जाए, और रोटी का रूप ले ले, या उसे फिर बो दिया जाए, जिससे अंकुरित होकर वह फिर पौधा बन जाय। मनुष्य, सम्पूर्ण और अन्तिम सत्ता नहीं है, वह ऐसी सत्ता है जो अपने आप को बदल सकती है, जो पुनर्जन्म ले सकती है। यह परिवर्तन घटित करके पुनः-पुनः जन्म लेने के लिए, जागरित होने के लिए, यत्न करना सभी धर्मों का ध्येय है।"[1]

जैनधर्म के अनुसार जीव आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है। अपने जीवन-काल में जीव क्षण-क्षण में पूर्वबद्ध आयुकर्म के दलिकों (पुद्गलों) को भोग रहा है।[2] युवत दलिक पृथक् होते जाते हैं और जव आयुकर्म के समस्त दलिक भोग लिए जाते हैं तव जीव को वर्तमान शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना पड़ता है।

यह एक अटल प्राकृतिक नियम है कि मृत्यु से पूर्व ही जीव अगले जन्म के लिए आयु बांध लेता है। पहले की आयु समाप्त होते ही वह उस शरीर का त्याग कर देता है और उसी समय नवीन आयुकर्म का उदय हो जाता है। इसी स्थिति में जीव अगली योनि के लिए आता है।

आयुकर्म के दलिकों का भोग दो प्रकार से होता है, जिसे हम प्राकृतिक और प्रायोगिक कह सकते हैं। स्वाभाविक क्रम से जो दलिक, जब उदय होने लगता है, उसी उसका समय भोग उदय में आता है, यही प्रथम प्रकार है। मगर कभी-कभी आयुदलिक नियत समय से पहले ही उदय में आ जाते हैं इसे अकाल-मृत्यु या आकस्मिकमरण भी कहते हैं, इसके सात कारण हैं—

---

१. "बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष" में सर्वपल्लि राधाकृष्णन्।

२. आवीचिकमरण, भगवती, शतक १३, उ०७, पा० १९।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे, वेयणाअपराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं झिज्जए आऊ॥
ठाणांग सूत्र, ठाणा ७।

अर्थात्—१. अत्यन्त तीव्र हर्ष-शोक आदि, २. विष-शस्त्र आदि का प्रयोग, ३. आहार की अत्यधिकता या सर्वथा अप्राप्ति, ४. व्याधिजनित वेदना, ५. आघात, ६. सर्प आदि का दंशन और ७. श्वासनिरोध, इन सात कारणों से आयु का क्षय होता है, तात्पर्य यह है कि जो आयु धीरे-धीरे भोगी जाने वाली थी, वह इन में से किसी भी एक कारण के उपस्थित होने पर शीघ्र भोग ली जाती है।

आयु भोग लेने के पश्चात् आत्मा के प्रदेश कभी-कभी बन्दूक से गोली की भांति शरीर से बाहर एकदम निकल जाते हैं, और कभी धीरे-धीरे निकलते हैं। एकदम निकल जाना "समोहिया-मरण" कहलाता है, और धीरे-धीरे निकलना "असमोहिया-मरण" कहलाता है।

मरण के पश्चात् गति नामकर्म के उदय के अनुसार जीव को अगली गति में जाना पड़ता है। उसे नवीन जन्म के योग्य स्थान में पहुंचा देना आनुपूर्वी नाम कर्म का काम है। आनुपूर्वी नामकर्म उसे नियत उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुंचा देता है।

पुरातन शरीर त्याग कर नूतन शरीर ग्रहण करने के लिए जीव की जो गति होती है, वह विग्रहगति कहलाती है। विग्रह अर्थात् इस शरीर से नये शरीर में जाने के लिये आत्मा की गति को विग्रहगति कहते हैं।

अन्यत्र कहा जा चुका है कि जैसे पृथ्वीतल पर बने हुए मार्गों से मनुष्यों का आवागमन होता है, उसी प्रकार गगनतल में बनी हुई श्रेणियों के अनुसार ही जीव की गति होती है। पुनर्जन्म के लिए जाने वाले जीव को यदि सीधी श्रेणी मिल जाए तो, उसे इस महायात्रा में सिर्फ एक समय लगता है। सीधी श्रेणी न हो, और एक बार मुड़ना पड़े, तो दो समय और दो मोड़ खाने पड़ें, तो तीन समय लगते हैं। साधारणतया तीन समय में ही जीव अपने उत्पत्ति क्षेत्र में पहुंचता है, विरला अवसर ऐसा होता है कि जब चार समय लग जाते हैं।

विग्रहगति के समय यद्यपि स्थूल शरीर नहीं रहता, तथापि कार्मण और तेजस नामक दो सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहते हैं। कार्मण शरीर के द्वारा ही उस समय जीव का व्यापार होता है, और वह उत्पत्ति स्थान पर पहुंचता है।

उत्पत्ति स्थान पर पहुंचते ही जीव को अपने योग्य नई सृष्टि रचनी पड़ती है।

जैनागमों में छः पर्याप्तियाँ मानी गई हैं। पर्याप्ति का अर्थ है 'पूर्णता'। वे ये हैं––

१. आहारपर्याप्ति, २. शरीर-पर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति। ४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, ५. भाषा-पर्याप्ति और ६. मनः-पर्याप्ति।

१. आहार पर्याप्ति – अपनी गति के अनुसार शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने की शक्ति की पूर्णता।

२. शरीर-पर्याप्ति – शरीर-निर्माण की शक्ति की पूर्णता।

३. इन्द्रियपर्याप्ति – इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने और उन्हें इन्द्रियों के रूप में परिणत करने की शक्ति की परिपूर्णता।

४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति – श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने, उन्हें श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करने और फिर छोड़ने की शक्ति की पूर्णता।

५. भाषा-पर्याप्ति – भाषावर्गणा के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके, भाषा-रूप में परिणत करके, बोलने की शक्ति की पूर्णता।

६. मनः-पर्याप्ति – मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके, उन्हें मन के रूप में परिणत करके, और उनकी सहायता से मनन करने की शक्ति की पूर्णता।

उत्पत्ति-स्थान में जीव सर्वप्रथम इन शक्तियों को प्राप्त करता है। इन में से एकेन्द्रिय जीवों को चार, द्वीन्द्रिय से लेकर अमनस्क पंचेन्द्रिय तक के जीवों को पांच और समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों को छहों शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

इन शक्तियों के द्वारा जीव अपने शरीर, इन्द्रिय आदि का निर्माण करता है। निर्माण करने की यह शक्तियाँ उसे लगभग पौन घंटे में प्राप्त हो जाती हैं,

फिर धीरे-धीरे निर्माण कार्य चलता रहता है। पर देवों और नारकों के जन्म की प्रक्रिया कुछ भिन्न प्रकार की है जो अन्य ग्रन्थों से जानी जा सकती है।

जैनशास्त्रों के अनुसार जन्म तीन प्रकार के हैं—

१. गर्भ २. सम्मूर्छिम ३. उपपात।

माता-पिता के रज-वीर्य के सम्मिश्रण के फलस्वरूप होने वाला जन्म गर्भ-जन्म है। इधर-उधर के पुद्गलों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप होने वाला जन्म सम्मूर्छिम-जन्म कहलाता है। देव और नारक जीवों का जन्म उपपात जन्म कहलाता है।

जरायुज, अर्थात् पतली-सी झिल्ली में लिपटे हुए जन्म लेने वाले मनुष्य आदि। अण्डे से जन्म लेने वाले पक्षी आदि, और पोतज अर्थात् जन्म लेने के पश्चात् जल्दी ही दौड़-भाग कर सकने वाले हाथी आदि गर्भज होते हैं। नाना प्रकार के कीड़े-मकौड़े आदि जीवों का जो गर्भज नहीं है, सम्मूर्छिमज होते हैं। देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। सृष्टि के समस्त प्राणी इन तीनों में से किसी एक प्रकार से जन्म धारण करते हैं।

हाँ, जो महाभाग नवीन आयु का बन्ध नहीं करते, और कार्मण शरीर का भी अन्त कर देते हैं, वे अजन्मा हो जाते हैं। वे जन्म-मरण से मुक्त सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं।

* * *

धम्मज्जियं च ववहारे, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभि गच्छई।।

—उत्तराध्ययन, अ० १, गा० ४२।

धर्महीन नीति जगत् के लिए अभिशाप है, और नीतिहीन धर्म कोरी वैयक्तिक साधना है, अतः महावीर कहते हैं कि——

हे साधक, जो व्यवहार धर्म से उत्पन्न है और ज्ञानी पुरुषों ने जिनका सदा आचरण किया उन व्यवहारों का आचरण करने वाला पुरुष कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

चारित्र और नीतिशास्त्र

चारित्र और नीतिशास्त्र

द्विविध धर्म

चारित्र का महत्त्व—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी धारा सीधी मुक्ति की ओर बही जा रही है[1] किन्तु मानव अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उसकी गहराई में प्रवेश करता है। उद्देश्य सिद्धि के सही पथ को पहचान लेना, ज्ञान की बात रही, और उस पर विश्वास प्रकट करना श्रद्धा की बात; किन्तु चलना तो अपनी-अपनी शक्ति पर ही निर्भर है।

कोई मन्दगति से चल पाता है, किन्तु कोई तीव्रगति से चलने में समर्थ होता है। तीव्र चलने वाले को अपनी तमाम मनोवृत्तियों को केन्द्रित, इन्द्रियों को नियन्त्रित, तथा उपाधि को स्वल्प-स्वल्पतर करके भागना पड़ता है। यदि भागना सम्भव नहीं हो तो मन्द-मन्द चलना सुविधानुसार भी हो सकता है। भगवान् महावीर ने यही तथ्य यों व्यक्त किया है—

> **धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अगारधम्मे चेव, अणगार–धम्मे चेव।**
>
> ठाणांगसुत्त, स्था० २।

---

[1] तत्वार्थ सूत्र, अ० १, सू० १।

धर्म अर्थात् मुक्तिमार्ग पर चलने के प्रकार दो हैं——

१. अगार धर्म और २. अनगारधर्म ।

गृहस्थी में रहते हुए और पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को निभाते हुए मुक्तिमार्ग की साधना करना अगारधर्म है। जिसे श्रावकधर्म या गृहस्थधर्म भी कहते हैं। जो विशिष्ट साधक गृह-त्याग कर साधु जीवन अंगीकार करते हैं, पूर्ण अहिंसा और सत्य की आराधना के लिए अस्तेय, ब्रह्मचर्य को, अपरिग्रह को अंगीकार करते हैं उनका आचार अनगारधर्म कहलाता है।

यद्यपि श्रावक और साधु, मुक्ति की साधना के लिए जिन व्रतों का पालन करते हैं, वे मूलतः एक ही हैं, परन्तु दोनों की परिस्थितियां भिन्न होती हैं। अतः उनके व्रतपालन की मर्यादा में भी भिन्नता होती है। समस्त लौकिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर, संयम और त्याग में ही रमण करने वाला साधु जिन अहिंसा आदि व्रतों को पूर्ण रूप से पालता है, श्रावक उन्हें आंशिक रूप में पाल सकता है। इस प्रकार योग्यता-भेद के कारण ही अगारधर्म और अनगारधर्म का भेद किया गया है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि व्रतों को पूर्ण रूप से पालने वाला साधक, साधु या महाव्रती कहलाता है, और आंशिक रूप में पालन करने वाला साधक श्रावक कहलाता है।

व्रतविचार

व्रत की परिभाषा——जीवन को सुघड़ बनाने वाली, आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएं नियम कहलाती हैं। अथवा जो मर्यादाएं सार्वभौम हैं, जो प्राणी मात्र के लिए हितावह हैं, और जिनसे स्वपर का हित-साधन होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जा सकता है। अपने जीवन में अथवा अनुभव में आने वाले दोषों को त्यागने का जब दृढ़ संकल्प उत्पन्न होता है, तभी व्रत की उत्पत्ति होती है।[1]

व्रत की आवश्यकता——सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियन्त्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार जीवन को नियन्त्रित, मर्यादित और प्रगतिशील बनाये रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। जैसे

---

[1] निश्शल्यो व्रती, तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सूत्र, १८, आवश्यक चतु० आ० सूत्र ७।

किनारों के अभाव में प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्य की जीवन-शक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवन-शक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा में ही उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है।

आकाश में ऊँचा उड़ने वाला पतंग सोचता है—"कि मुझे डोर के बन्धन की क्या आवश्यकता है? यह बन्धन न हो तो मैं स्वच्छन्द भाव से गगन-विहार कर सकता हूं"; किन्तु हम जानते हैं कि डोर टूट जाने पर पतंग की क्या हालत होती है। डोर टूटते ही पतंग के उन्मुक्त व्योमविहार का स्वप्न भंग हो जाता है, और उसे धूल में मिलना पड़ता है। इसी प्रकार जीवन-पतंग को उन्नत रखने के लिए व्रतों की डोर के साथ बन्धे रहने की आवश्यकता है।

मूलभूत दोष—प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार के दोष पाये जाते हैं। उनकी गणना करना संभव नहीं। तथापि उन सब दोषों के मूल की यदि खोज की जाए तो विदित होगा कि मूलभूत दोष पाँच हैं। जो शेष समस्त दोषों के जनक हैं और जो व्यक्ति के जीवन में पनप कर उसे नाना प्रकार की बुराइयों का पात्र बना देते हैं। वे यह हैं[1]—

१. अहिंसा, २. असत्य, ३. अदत्तादान, ४. मैथुन और, ५. परिग्रह।

इन पांच दोषों के कारण ही मानवता संत्रस्त होती और कुचली जाती है। इन्हीं के प्रभाव से मानव दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, लोभी, स्वार्थी, प्रपंची, मिथ्याभावी और न जाने किन-किन बुराइयों का घर बन जाता है। यही दोष हैं जो आत्मा के उत्थान के मार्ग में चट्टान की भांति आड़े आते हैं, और जब मनुष्य इन पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे महात्मा एवं परमात्मा बनने में क्षण भर का विलम्ब नहीं लगता।

यह दोष मानव तथा अन्यान्य जीवधारियों में भी जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों के कारण प्रश्रय पा रहे हैं। वस्तुतः यही आत्मा के वास्तविक शत्रु हैं। राग और द्वेष इनके जन्मदाता हैं।

पूर्वोक्त पाँच दोषों में भी हिंसा सबसे बड़ा दोष है, सब से बड़ा पाप है और वही अन्य समस्त पापों का जनक है।

साधारणतया प्राणघात को हिंसा कहते हैं, परन्तु हिंसा और अहिंसा

---

[1] तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सू० १,।

का स्वरूप गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन की अपेक्षा रखता है। हिंसा, प्रमाद में और अहिंसा विवेक में छिपी हुई है। मनोभावना ही हिंसा-अहिंसा की निर्णायक कसौटी है। किसी के प्राणों का वध हो जाना ही हिंसा नहीं है, किन्तु प्रमादवश अर्थात् राग-द्वेष के वशीभूत होकर प्राणों का जो वध किया जाता है वही हिंसा है।[२]

प्रश्न हो सकता है कि—"किसी प्राणी की रक्षा करते हुएअगर उसके प्राणों की हानि हो जाए, अथवा अपनी ओर से सावधान रहने पर भी अकस्मात् कोई जीव किसी के निमित्त से मर जाए तो क्या उसे हिंसा का दोष लगेगा ?"

इस प्रश्न का उत्तर है—"नहीं। रक्षा करते हुए अगर प्राणहानि हुई है, और तुम्हारा विवेक पूर्ण रूप से जागृत रहा है, तो तुम हिंसा के फल के भागी नहीं होओगे। अलवत्ता अगर तुमने असावधानी की है, प्रमाद को आश्रय दिया है, या तुम्हारे चित्त में कषाय उत्पन्न हुआ है तो अवश्य तुम्हें हिंसा का भागी होना पड़ेगा।"

प्राणवध स्थूल क्रिया है और प्रमाद योग सूक्ष्म क्रिया है। प्राणवध द्रव्य हिंसा कहलाता है और प्रमाद योग भाव हिंसा। भाव हिंसा एकान्त हिंसा है, जब कि द्रव्य हिंसा एकान्त हिंसा नहीं। भाव हिंसा की मौजूदगी में होने वाली द्रव्य हिंसा ही हिंसा है।[३]

जैसे चिकित्सक करुणाभाव से सावधानी के साथ रोगी का आपरेशन करता है, किन्तु रोगी किसी कारण मर जाता है, तो वह द्रव्यहिंसा चिकित्सक के हिंसा जनित पापवन्ध का कारण नहीं होगी। इसके विपरीत लोभ-लालच अथवा किसी अन्य कारण से चिकित्सक रोगी को विषमिश्रित औषध देता है और आयु लम्बी होने के कारण रोगी मृत्यु से वच जाता है तव भी चिकित्सक हिंसा के पाप का भागी हो जाता है।

इस प्रकार जैनधर्म हिंसा को क्रिया पर नहीं वरन् मुख्यतः भावना पर आश्रित मानता है। भावना ही हिंसा और अहिंसा की अचूक कसोटी है।

असत्य—असत् भाषण करना दूसरा दोष है। असत् का अर्थ है 'अयथार्थ'

---

[१] तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सूत्र ३।

[२] प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा, तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सू० १३।

[३] भगवती सूत्र, श० १, उ० १, सू० ४८।

और अप्रशस्त। जो वस्तु या घटना जैसी है उसे वैसी न कहकर अन्यथा कहना अयथार्थ असत्य है।[1] जिसे साधारण जन भी असत्य मानते हैं; परन्तु जो वचन दूसरों को पीड़ा पहुंचाने के लिए बोला जाता है, जिसके पीछे दुर्भावना काम कर रही होती है, वह भी असत्य होता है अतः उसे अप्रशस्त असत्य कहते हैं। किसी निर्धन को कंगाल कहना, चक्षुहीन को चिढ़ाने या चोट पहुंचाने के लिए अन्धा कहना, किसी दुर्बल को दुखी कहने के लिए मरियल आदि कहना, अथवा हिंसाजनक या हिंसोत्तेजक भाषा का प्रयोग करना, यह सब असत्य में परिगणित है, फिर भले ही वह तथ्य या यथार्थ ही क्यों न हो।

अदत्तादान--स्वामी की इच्छा या आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना अपने अधिकार में करना अदत्तादान है।[2] किसी की वस्तु मार्ग में गिर पड़ी है या कोई अपनी वस्तु कहीं रखकर भूल गया है, उसे हड़प जाना या दबा लेना भी अदत्तादान में ही सम्मिलित है।

जब मनुष्य लालच-वृत्ति को स्वच्छन्द छोड़ देता है, तब अनधिकृत वस्तु पर भी अधिकार करने का प्रयत्न करता है। नीति-अनीति के विवेक को तिलांजलि दे देता है और जैसे-तैसे भी अपनी लोलुपता की पूर्ति करता है। इसी भावना से अदत्तादान-चोरी के पाप का प्रादुर्भाव होता है।

मैथुन--स्त्री और पुरुष के कामोद्वेगजनित पारस्परिक सम्बन्ध की लालसा एवं क्रिया मैथुन कहलाती है।[3] मैथुन को अब्रह्म कहा है और उसे अब्रह्म कह कर यह सूचित किया गया है कि काम-दोष आत्मा के सद्गुणों का नाश करने वाला है। यों तो प्रत्येक पाप आत्माको कलुषित करने वाला ही है, किन्तु मैथुन के पाप में एक बड़ी बात यह है कि कई बार उसकी परम्परा दीर्घ काल के लिए चल पड़ती है। इस पाप के चक्कर में पड़ कर व्यक्ति अन्यान्य पापों का प्रायः शिकार बनता है। यह पाप आत्मा के सद्गुणों का घात करता है। शरीर को निःसत्व बनाता है। समाज की नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करता है और अभ्युदय में विकट बाधाएं उपस्थित करता है। अतएव यह भयानक पाप है।

परिग्रह—किसी भी परपदार्थ को ममत्व भाव से ग्रहण करना, परिग्रह

---

१. प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार २।
२. प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार ३।
३. प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार ४।

कहलाता है। ममत्व, मूर्छा या लोलुपता ही वास्तव म परिग्रह है।[१] उसी से संसार के अधिकांश दुःख उत्पन्न होते हैं। भौतिक पदार्थों पर आसक्ति रखने से विवेक नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूप से विमुख होकर और राग-द्वेष के वशीभूत होकर अनेक दोषों का सेवन करता हुआ लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है।

यह पांच महान् दोष हैं, जिनसे संसार के समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इतिहास साक्षी है कि इन्हीं दोषों के कारण मनुष्य अपना और संसार का अहित करता आया है। मगर दोषों का शमन हो जाए तो शान्ति और स्थायी एवं सच्चे सुख की प्राप्ति में विलम्ब न लगे। आत्मा को इन दोषों से मुक्त करना ही जैनधर्म की साधना का मुख्य लक्ष्य है। जब यह साधना अपनी पूर्णता पर पहुंच जाती है, तब आत्मा, परमात्मा पद का अधिकारी बन जाता है।

पात्रों की योग्यता एवं क्षमता का विचार करके जैनधर्म में यह साधना दो भागों में बांट दी गई है, जिसे हम पहले अगारधर्म (गृहस्थ-धर्म) और दूसरा अनगार (साधु-धर्म) के नाम से कह चुके हैं।[२]

गृहस्थधर्म की पूर्व भूमिका

संघ का विभाजन—भगवान् महावीर ने जब धर्मशासन की स्थापना की तो स्वाभाविक ही था कि उसे स्थायी और व्यापक रूप देने के लिए वे संघ की भी स्थापना करते। क्योंकि संघ के बिना धर्म ठहर नहीं सकता।

जैन संघ चार श्रेणियों में विभक्त है।

१. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक, ४. श्राविका।

इनमें साधु और साध्वी का आचार लगभग एक-सा और श्रावक-श्राविका का आचार एक-सा है।

जैन संघ में श्रावक और श्राविका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रावक का आचार मुनि धर्म के लिए नींव के समान है। उसी के ऊपर मुनि के आचार का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

धर्म संघ की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण बात थी और उसमें भी गृहस्थों को समुचित स्थान मिलना, श्रमण भगवान् की विशालता और उदारता का

---

[१] दशवैकालिक, अ० ६, गाथा २१।

[२] ठाणांग सूत्र, स्था० २, उ० १।

परिचायक है । कुछ लोग समझते हैं कि जैनधर्म निवृत्तिमय धर्म, और त्यागियों-वैरागियों के ही काम की ही चीज है; किन्तु उनका यह भ्रम जैनों की संघ व्यवस्था का विचार करने से ही हट सकता है ।

श्रावक पद का अधिकार—जैनधर्म में जैसे मुनियों के लिए आवश्यक आचार प्रणालिका निर्दिष्ट की गई है, और उस आचार का पालन करने वाला साधक ही मुनि कहलाता है, उसी प्रकार श्रावक होने के लिए भी कुछ आवश्यक शर्तें हैं । प्रत्येक गृहस्थ श्रावक नहीं कहला सकता, बल्कि विशिष्ट व्रतों को अंगीकार करने वाला गृहस्थ ही श्रावक कहलाने का अधिकारी है ।

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक बनने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सात दुर्व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है—वे दुर्व्यसन ये हैं—

१. जुआ खेलना, २. मांसाहार, ३. मदिरापान, ४. वेश्यागमन, ५. शिकार, ६. चोरी और ७. परस्त्रीगमन ।

यह सातों ही कुव्यसन जीवन को अधःपतन की ओर ले जाते हैं । इनमें से किसी भी एक व्यसन में फँसा हुआ अभागा मनुष्य, प्रायः सभी व्यसनों का शिकार बन जाता है ।

इन सात कुव्यसनों में से नियमपूर्वक किसी भी व्यसन का सेवन न करने वाला ही श्रावक बनने का पात्र होता है ।

श्रावक बनने के लिए—इन सात दुर्व्यसनों के त्याग के अतिरिक्त गृहस्थ में अन्य गुण भी होने चाहिएं । जैन परिभाषा में उन्हें मार्गानुसारी के गुण कहते हैं । क्योंकि जिन मार्ग का अनुसरण करने के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है । उनमें कुछ ये हैं—

नीतिपूर्वक धनोपार्जन करे, शिष्टाचार का प्रशंसक हो, गुणवान् पुरुषों का आदर करे, मधुरभाषी हो, लज्जाशील हो, शीलवान् हो, माता-पिता का भक्त एवं सेवक हो, धर्मविरुद्ध, देशविरुद्ध, एवं कुलविरुद्ध, कार्य न करने वाला, आय से अधिक व्यय न करनेवाला, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वाला, नियत समय पर परिमित सात्विक भोजन करने वाला, परस्पर विरोध–रहित धर्म अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग का सेवन करने वाला, अतिथि, दीन-हीन जनों एवं साधु-सन्तों का सत्कार करने वाला । गुणों का पक्षपाती, अपने आश्रित जनों का पालन-पोषण करनेवाला, आगा-पीछा सोचने वाला, सौम्य, परोपकार-परायण, काम-क्रोध आदि

आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करने में उद्यत, और इन्द्रियों पर काबू रखने वाला हो। इत्यादि गुणों से युक्त गृहस्थ ही श्रावक धर्म का अधिकारी होता है।

जैनशास्त्रों में प्रकारान्तर से श्रावक की २१ विशेषताओं (गुणों) का भी उल्लेख है। यथा—

१. श्रावक का किसी को कष्ट देने का स्वभाव नहीं होना चाहिए।

२. तेजस्वी और सशक्त स्वभाव वाला हो, अन्तर का सौम्यभाव उसके चेहरे पर प्रतिविम्बित हो।

३. शान्त, दान्त, क्षमाशील, मिलनसार, विश्वास-पात्र और शीतल चित्त हो।

४. अपने व्यवहार से लोकप्रिय हो।

५. क्रूरता से रहित हो।

६. लोकापवाद से डरे, इह-परलोक के विरुद्ध कार्य न करे।

७. शठ, धूर्त एवं अविवेकी न हो।

८. दक्ष हो—व्यवहार कुशल हो और एक नजर में ही आदमी को परख ले।

९. लज्जाशील हो।

१०. दयावान् हो।

११. मध्यस्थभावी हो—भली-बुरी बात सुनकर, या वस्तु को देखकर, राग-द्वेष न करे, आसक्तिशील न हो।

१२. सुदृष्टिमान्—अन्तःकरण में मलीनता न हो, आंखों से अमृत झरे, और सम्यग्दृष्टि हो।

१३. गुणानुरागी हो।

१४. न्याय युक्त पक्ष ग्रहण करे, अन्याय का साथ न दे।

१५. दीर्घदृष्टि हो—भविष्य का विचार करके व्यवहार करे।

१६. विशेषज्ञ हो—अर्थात् सत्-असत्, हित, अहित एवं गुण अवगुण की परीक्षा करने में कुशल हो।

१७. वृद्धानुगामी हो, अर्थात् अनुभवी व्यक्तियों के अनुभव का लाभ लेता हुआ प्रवृत्ति करे।

१८. विनयवान् हो।

१९. रग-रग में कृतज्ञता भरी हो।

२०. "परोपकाराय सतां विभूतयः" अर्थात् सत्पुरुषों का सर्वस्व परहित के लिए ही होता है, ऐसी उनकी जीवन नीति हो।

२१. लब्धलक्ष्य हो, अर्थात् अपने जीवन के प्रशस्त लक्ष्य को प्राप्त करने वाला हो।

जिस गृहस्थ के जीवन में उल्लिखित विशेषताएं आ जाती हैं, उसका जीवन आदर्श गृहस्थ-जीवन हो जाता है। तभी वह श्रावक-धर्म को अंगीकार करने और उसका समचित रूप से पालन करने में समर्थ होता है।

गृहस्थधर्म

जैन शास्त्र का विधान है—"चारित्तं धम्मो।" अर्थात "चारित्र ही धर्म है।" चारित्र क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

"असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं"

अर्थात् "अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों में प्रवृत्त होना, चारित्र कहलाता है। वस्तुतः सम्यक्-चारित्र या सदाचार ही मनुष्य की विशेषता है। सदाचारहीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है।

चारित्र धर्म के नियम गृहस्थ वर्ग और त्यागी के लिए पृथक्-पृथक् बतलाये गए हैं। गृहस्थ-वर्ग के लिए बतलाए गए व्रतों का अर्थात् श्रावक धर्म का, यहां संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

अणुव्रत

अणुव्रत का अर्थ है छोटा व्रत—

१. अहिंसाणुव्रत—पहला व्रत स्थूल प्राणातिपात विरमण अर्थात् जीवों की हिंसा से विरत होना है। संसार म दो प्रकार के जीव हैं, स्थावर और त्रस। जो जीव अपनी इच्छा अनुसार स्थान बदलने में असमर्थ हैं, वे स्थावर कहलाते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, यह पांच प्रकार के स्थावर जीव हैं। इन जीवों की सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं।

सुख-दुःख के प्रसंग पर जो जीव अपनी इच्छा के अनुसार एक जगह से दूसरी जगह आते हैं, जो चलते-फिरते और बोलते हैं, वे त्रस जीव हैं। इन त्रस जीवों में दो इन्द्रियों वाले, कोई तीन इन्द्रियों वाले, कोई चार इन्द्रियों वाले, कोई

पांच इन्द्रियों वाले होते हैं। संसार के समस्त जीव त्रस और स्थावर विभागों में सम्मिलित हो जाते हैं।

मुनि दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते, अतएव उनके लिए स्थूल हिंसा के त्याग का विधान किया गया है। निरपराध त्रस जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा को ही गृहस्थ त्यागता है।

जैनशास्त्रों में हिंसा चार प्रकार की बतलाई गई है।[1]

१. आरम्भी हिंसा, २. उद्योगी हिंसा, ३. विरोधी हिंसा और ४. संकल्पी हिंसा।

१. जीवन निर्वाह के लिए, आवश्यक भोजन-पान के लिए, और परिवार के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है।

२. गृहस्थ अपनी आजीविका चलाने के लिए, कृषि, गोपालन, व्यापार आदि उद्योग करता है और उन उद्योगों में हिंसा की भावना न होने पर भी जो हिंसा होती है, वह उद्यमी या उद्योगी हिंसा कहलाली है।

३. अपने प्राणों की रक्षा के लिए, कुटुम्ब-परिवार की रक्षा के लिए अथवा आक्रमणकारी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है।

४. किसी निरपराध प्राणी की, जान-बूझ कर, मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है।

चार प्रकार की इस हिंसा में गृहस्थ पहले व्रत में संकल्पी हिंसा का त्याग करता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा में यथाशक्ति त्याग करके अहिंसा व्रत का पालन करता है।

अहिंसा व्रत का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए पांच दोषों से बचते रहना चाहिए।[2]

१. किसी जीव को मारना, पीटना, त्रास देना,

२. किसी का अंगभंग करना, अपंग बनाना, विरूप करना।

३. किसी को बन्धन में डालना, यथा-तोते के पींजरे में बन्द करना, कुत्तों

---

१. प्रश्न व्याकरण आश्रव द्वार, २. उपासक दशांग अ० १।

को रस्सी से बांधे रखना, सांप को पिटारे में बन्द कर देना, एसा करने से उन प्राणियों की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और उन्हें व्यथा पहुंचती है।

४. घोड़े, बैल, खच्चर, गधे आदि जानवरों पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, नौकरों से अधिक काम लेना।

५. अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन-पानी न देना तथा रात्रि भोजन आदि समस्त दोषों का त्याग अहिंसाणुव्रत की भावना में आवश्यक है।

२. सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करना और सूक्ष्म असत्य के प्रति सावधान रहना द्वितीय व्रत है।

यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म असत्य की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, तथापि जिस असत्य को दुनिया असत्य मानती है, जिस असत्य भाषण से मनुष्य झूठा कहलाता है, जो लोकनिन्दनीय और राजदण्डनीय है, वह असत्य स्थूल असत्य कहलाता है। श्रावक ऐसे स्थूल असत्य-भाषण का त्याग करता है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची-झूठी कह कर किसी को गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावाद में सम्मिलित हैं। इस व्रत का भलीभांति पालन करने के लिए इन पांचों बातों से बचना चाहिए।[1] जैसे कि :—

१. दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना।
२. किसी की गुप्त बात प्रकट करना।
३. पत्नी आदि के साथ विश्वास घात करना।
४. दूसरे को गलत सलाह देना।
५. जालसाजी करना, झूठे दस्तावेज आदि लिखना।

३.अचौर्याणुव्रत—मन, वाणी और शरीर से किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत कहते हैं। चोरी भी दो प्रकार की है स्थल चोरी, और सूक्ष्म चोरी। जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है, और जो चोरी लोक में चोरी के नाम से विख्यात है, वह स्थूल चोरी है। रास्ते में चलते-चलते तिनका या कंकर उठा लेना या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु उसके स्वामी से आज्ञा प्राप्त किए बिना ग्रहण कर लेना सूक्ष्म

---

[1] उपासक दशांग, अ० १।

चोरी है। गृहस्थ के लिए सम्पूर्ण चोरी का त्याग करना कठिन है, तथापि स्थूल चोरी का त्याग करना ही चाहिए। सेंध लगाना, जेब काटना, डाका डालना, सूद के बहाने किसी को लूट लेना, आदि स्थूल चोरी के अन्तर्गत है।

अचौर्याणुव्रती को इन पांच बातों से बचना चहिए[1]—

१. चोरी का माल खरीदना।

२. चोर को चोरी करने में सहायता देना।

३. राज्य-राष्ट्र के विरुद्ध कार्य करना, जैसे उचित 'कर' न देना आदि।

४. न्यूनाधिक नाप-तोल करना।

५. मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

४. **ब्रह्मचर्याणुव्रत**—कामभोग एक प्रकार का मानसिक रोग है। उसका प्रतिकार भोग से नहीं हो सकता। यह समझ कर मानसिक बल शारीरिक स्वस्थता और आत्मिक प्रकाश की रक्षा के लिए संभोग से सर्वथा बचना पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं कर सकता, उसे कम-से-कम पर स्त्रीगमन का त्याग तो करना ही चाहिए। इस प्रकार परस्त्रीत्याग और स्वस्त्री सन्तोष करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

संभोग की प्रतिक्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों का वध होता है। इससे राग, द्वेष और मोह की वृद्धि होती है। वह समस्त पापों का मूल है। अतएव जो गृहस्थ उसे अपनी पत्नी तक सीमित कर लेता है और पत्नी में भी अत्यासक्ति नहीं रखता, वह अन्त में काम वासना पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रती को निम्नलिखित पांच बातों से बचना चाहिए[2]—

१. किसी रखेल आदि के साथ कुसम्बन्ध स्थापित करना।

२. कुमारी या वेश्या आदि के साथ गमन करना।

३. अप्राकृतिक रूप से मैथुन सेवन करना।

२. अपना दूसरा विवाह करना तथा दूसरों के विवाह सम्बन्ध स्थापित करते फिरना।

५. कामभोग की तीव्र अभिलाषा रखना।

५. **परिग्रह परिमाण अणुव्रत**—परिग्रह संसार का बड़े से बड़ा पाप है।

---

[1] उपासक दशांग, अ० १। [2] उपासक दशांग अ० १।

आज संसार के समक्ष जो जटिल समस्याएं उपस्थित हैं, सर्वव्यापी वर्ग संघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह-मूर्छा की देन है। जब तक मनुष्य के जीवन में अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्तिलाभ नहीं कर सकता। अतएव परिग्रह की सीमा कर लेना आवश्यक है।

यही परिग्रहपरिमाण अणुव्रत कहलाता है। इस अणुव्रत का अगर व्यापक रूप से पालन किया जाय तो भूमंडल को स्वर्गधाम बनने में पल भर देर न लगे। सर्वत्र सुख और शान्ति कासाम्राज्य स्थापित हो जाय। इस अणुव्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित पांच दोषों से बचना आवश्यक है—

१. मकानों, दुकानों तथा खेतों की मर्यादा को किसी भी बहाने से बढ़ाना।

२. इसी प्रकार सोने-चांदी आदि के परिमाण को भंग करना।

३. द्विपद (नौकर) तथा चतुष्पद (गाय, घोड़ा आदि) के परिमाण का उल्लंघन करना।

४. मुद्रा, जवाहरात आदि की मर्यादा को भंग करना।

५. दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्त्र, पात्र, आसन आदि वस्तुओं के लिए परिमाण को उल्लंघन करना।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत—पूर्वोक्त पांच अणुव्रत गृहस्थ के मूल व्रत हैं। उनका भली भांति आचरण करने के लिए कुछ और व्रतों की भी आवश्यकता होती है। जिनसे मूल व्रतों की संपुष्टि, और वृद्धि और रक्षा होती है। उन्हें उत्तर व्रत कहते हैं, उन्हें भी दो भागों में विभक्त किया गया है। गुणव्रत और शिक्षा व्रत। गुणव्रत तीन, और शिक्षा व्रत चार हैं।[1] यह सब मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१. **दिग्व्रत**[2]—मनुष्य की अभिलाषा आकाश की भांति असीम और अग्नि की तरह वह समग्र भूमण्डल पर अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने का मधुर स्वप्न ही नहीं देखती, वरन् उस स्वप्न को साकार करने के लिए विजय-अभिमान भी करती है। अर्थ लोलुपी मानव तृष्णा के वश होकर विभिन्न देशों में परिभ्रमण करता है। विदेशों में व्यापार-संस्थान स्थापित करता है और इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मनुष्य की इस निरंकुश तृष्णा को नियन्त्रित

---

[1] औपपातिक सूत्र, वीरदेशना। [2] उपासक दशांग अ० १।

करने के लिए दिग्व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत का धारक श्रावक समस्त दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करता है, और उससे बाहर सब प्रकार के व्यापारों का त्याग कर देता है।

२. उपभोग-परिभोग परिमाण—[1]एक बार भोगने योग्य आहार आदि उपभोग कहलाते हैं। जिन्हें पुनः पुनः भोगा जा सके, ऐसे वस्त्रपात्र, आदि को परिभोग कहते हैं। इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा बांध लेना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। यह व्रत भोजन और कर्म (व्यवसाय) से दो भागों में विभक्त किया गया है। भोजन पदार्थों की मर्यादा करने से लोलुपता पर विजय प्राप्त होती है। व्यापार सम्बन्धी मर्यादा कर लेने से पापपूर्ण व्यापारों का त्याग हो जाता है।

३. अनर्थ दण्ड त्याग—बिना प्रयोजन हिंसा करना अनर्थदण्ड कहलाता है। विवेकशून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार से व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करती है—

१. अपध्यान – दूसरों का बुरा विचारना।
२. प्रमादाचरित जाति – कुल आदि का मद करना तथा विकथा, निन्दा आदि करना।
३. हिंसाप्रदान – हिंसा के साधन-तलवार, वन्दूक, वम आदि का निर्माण करके दूसरों को देना, संहारक शस्त्रों का आविष्कार करना।
४. पापोपदेश – पाप-जनक कार्यों का उपदेश देना।

इस व्रत को अंगीकार करने वाला साधक कामवासना वर्द्धक वार्तालाप नहीं करता, कामोत्तेजक कुचेष्टाएं नहीं करता। असभ्य-फूहड़ वचनों का प्रयोग नहीं करता, हिंसाजनक शस्त्रों के आविष्कार, निर्माण या विक्रय में भाग नहीं लेता, और भोगोपभोग के योग्य पदार्थों में अधिक आसक्त नहीं होता।

४. सामायिकव्रत—[2] मन की राग-द्वेषमय परिणति विषमभाव है। इस विषमभाव को दूर करके जगत् के समस्त पदार्थों में तटस्थभाव समभाव स्थापित करना ही जैन साधना का उद्देश्य है। क्योंकि समभाव के अभाव म सच्ची शान्ति का लाभ नहीं हो सकता। इसी कारण आर्हती साधना चरम उद्देश्य समता को केन्द्र मानकर मुक्ति की ओर गया है।

---

१. उपासक दशांग अ० १। २. उपासक दशांग अ० १।

समभाव को प्राप्त करने, विकसित करने और स्थायी बनाने के लिए जिस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है, वह सामायिक व्रत है। इस व्रत की आराधना का काल ४८ मिनिट निर्दिष्ट किया गया है। इस काल में गृहस्थ श्रावक को समस्त पापमय व्यापारों का त्याग करके आत्मचिन्तन करना चाहिए। सामायिक के समय में प्राप्त हुई समभाव की प्रेरणा को जीवनव्यापी बनाने का यत्न करना चाहिए।

५. देशावकाशिकव्रत—[1] दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिए किये गए दिशाओं के परिमाण को एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिए कम करना, और उस परिमाण से बाहर समस्त पाप कार्यों का त्याग करना देशावकाशिक व्रत है।

६. पौषधव्रत—[2] जिससे आत्मिक गुणों या धर्म भाव का पोषण होता है, वह पौषध व्रत कहलाता है। इस व्रत का आचरण प्रायः अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशिष्ट तिथियों में किया जाता है। एक रात-दिन उपवास करना, अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना, तत्वचिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय एवं आत्मरमण करना और सब प्रकार की सांसारिक उपाधियों से छुटकारा लेकर साधु सरीखी वृत्ति धारण कर लेना, इस व्रत की चर्या है।

७. अतिथिसंविभाग—[3] जिनके आने का समय नियत नहीं है, उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण पहले सूचना दिए विना आते हैं। उन्हें संयमोपयोगी आहार आदि का दान करना अतिथि-संविभाग व्रत है।

संग्रहपरायण मनोवृत्ति को कृश करने, तथा त्यागभावना को जागृत एवं विकसित करने के लिए इस व्रत की व्यवस्था की गई है।

अतिथि शब्द से मुख्यतः साधु का अर्थ ध्वनित होता है, किन्तु श्रावक का हृदय इतना उदार, सदय और दानशील होता है कि साधु के सिवाय अन्य दीन-दुखी भी उसके द्वार से निराश होकर नहीं लौटता।

इन बारह व्रतों का पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति, साजाजिक न्याय तथा स्व पर सुख की प्राप्ति होती है। प्रत्येक गृहस्थ यदि बारह व्रतों की

---

[1] उपासक दशांग अ० १। [2] उपासक दशांग अ० १।
[3] उपासक दशांग अ० १।

मर्यादाओं का पालन करे तो संसार स्वर्ग बन सकता है, और प्रत्येक प्राणी के साथ बन्धुभाव स्थापित होने से अपूर्व शान्ति का वायुमण्डल निर्मित हो सकता है।

श्रावक के तीन प्रकार

व्रतों का अणु-आंशिक-रूप से पालन करना अणुव्रत कहलाता है। किन्तु प्रत्येक गृहस्थ की अणुरूप साधना भी समान कोटि की नहीं हो सकती। आखिर अपनी क्षमता के अनुसार ही गृहस्थ इन व्रतों का पालन कर सकता है, अतएव उसकी साधना में अनेक कोटियां हो जाना स्वाभाविक है। उस कोटि भेद के आधार पर श्रावक तीन प्रकार के होते हैं—

१. पाक्षिक, २. नैष्ठिक ३. साधक।

जो एक देश से (अंशतः) हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म अंगीकार करता है; वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जब वह निर्दोष निरतिचार-रूप से व्रतों का पालन करने लगता है, तब नैष्ठिक कहलाता है। वही श्रावक जब पूर्ण रूप से देशचारित्र का पालन करता है और आत्मा की स्वरूपपरिस्थिति में लीन हो जाता है, तब साधक श्रावक कहलाता है।

जीवन-नीति

श्रावक और साधु दोनों ही मुमुक्षु होते हैं। दोनों आत्माशुद्धि के पथ के पथिक होते हैं। दोनों का उद्देश्य मुक्तिलाभ करना है। दोनों संयम की साधना में निरत रहते हैं और पाप से बचने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी दोनों की परिस्थितियों में अन्तर है। साधु सर्वथा अपरिग्रही और अनारंभी समस्त पापकृत्यों के त्यागी होते हैं, किन्तु श्रावक गृहस्थ-अवस्था में रहने के कारण ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि उसका परिग्रह और आरम्भ अमर्यादित नहीं होता।

जैनशास्त्रों में महापरिग्रह और उसके लिए किया जाने वाला महारंभ नरक गति का कारण बतलाया गया है। अतएव श्रावक की जीवन नीति ऐसी सरल और सादी होनी चाहिए कि वह अल्पारंभी और अल्पपरिग्रही रहकर ही अपना और अपने परिवार का निर्वाह कर ले। श्रावक का दर्जा पाने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है।

श्रावक परिग्रह की एक मर्यादा बांध लेता है, जिससे वह तृष्णा पर अंकुश लगा सके। उस मर्यादा को निभाने के लिए वह भोगोपभोग की वस्तुओं

की मर्यादा कर लेता है, और निरर्थक संग्रह का भी त्याग कर देता है। इस प्रकार श्रावक का जीवन अत्यन्त सादा बन जाता है। आजीविका के निमित्त उसे कोई बड़ा पाप नहीं करना पड़ता।

जिस आजीविका या व्यवसाय से विशेष हिंसा होती है, जिससे व्यक्ति में अनैतिकता बढ़ती है, और समाज अथवा राष्ट्र को क्षति पहुंचती है, श्रावक उससे दूर रहता है। जैन-परिभाषा में ऐसा व्यवसाय कर्मादान कहलाता है। आदर्श श्रावक कर्मादान का त्यागी होता है।

वृक्षों को काट-काट कर कोयला बनाना, ठेका लेकर जंगल को उजाड़ना, हाथी दांत आदि का व्यापार करना, मदिरा जैसी मादक वस्तुओं का विक्रय करना। प्राणघातक विष बेचना, मनुष्यों में बेकारी बढ़ाने वाले यन्त्रों से धंधा करना, और दुराचारिणी स्त्रियों से दुराचार करवा कर द्रव्योपार्जन करना, आदि निंद्य कर्मों से श्रावक दूर रहता है।

उपासक दशांग सूत्र में आदर्श श्रावकों के चरित्र बतलाये गये हैं। उन श्रावकों के पास जितनी भूमि, गायें और पूंजी मौजूद थीं, उतनी ही उन्होंने परिग्रह की मर्यादा की थी। आनन्द श्रावक के यहां लाखों गायें थीं। पांच सौ हलों से खेती होती थी। वह बड़ा व्यापार करता था फिर भी वह मर्यादा से ज्यादा परिग्रह नहीं होने देता था। इससे जान पड़ता है कि वह वाणिज्य कृषि और गोपालन करके, अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करता हुआ भी उससे कोई मुनाफा नहीं उठाता था, या अपने मुनाफे का सर्वसाधारण में वितरण कर देता था।

कहा जा सकता है कि जिसे मुनाफा नहीं कमाना, उसे व्यापार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह है कि व्यापार का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थसाधना नहीं, वरन् समाज सेवा करना है। प्रजा के अभावों की पूर्ति के लिए व्यापार होना चाहिए। सब जगह सभी वस्तुएं सुलभ नहीं होतीं। कोई वस्तु कहीं इतने अधिक परिमाण में पैदा होती है कि अन्यत्र न भेजी जाय, तो वृथा पड़ी-पड़ी सड़ती रहे। दूसरी जगह उसके अभाव में लोग कष्ट पाते हैं। इस परिस्थिति में व्यापारी सामने आता है, और वह जरूरत वाली जगह पर उस चीज को ले जाकर प्रजा के अभाव को दूर करता है।

व्यापारी न हो तो प्रजा अभावग्रस्त होकर परेशान हो जाय, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् आयोजन नहीं कर सकता।

व्यापारी की यह महत्त्वपूर्ण सेवा है। यह सेवा करता हुआ व्यापारी अपने निर्वाह के लिए कुछ अंश बचा लेता है। जिसे मुनाफा कहते हैं। जिस व्यापारी के जीवन निर्वाह का दूसरा स्रोत मौजूद है, उसे मुनाफा लेने की आवश्यकता नहीं। फिर भी वह प्रजा के अभावों को दूर करने के लिए सेवा के रूप में व्यवसाय करता है।

जैनशास्त्र इस आदर्श व्यापार नीति की ओर संकेत करते हैं। श्रावक की जीवन-नीति की इससे अच्छी कल्पना आ सकती है।

जैन श्रावक सन्तोष के साथ अपना जीवन निर्वाह करता है। प्रतिदिन वीतराग देव की पूजा (भाव-भक्ति) करना, गुरु की उपासना करना, स्वाध्याय करना, संयम का सेवन करना, यथाशक्ति तपस्या करना और यथोचित दान देना गृहस्थ का दैनिक कर्त्तव्य है।

चारित्र का मूलाधार अहिंसा

गृहस्थ के व्रतों का जो शब्द-चित्र खींचा गया है, उसे पढ़ने से एक बात सहज ही ध्यान में आ सकती है, वह यह है कि वहां संसार को छोड़कर भागने की बात नहीं है। संसार को मिथ्या मानने या अवास्तविक कहने की भ्रमपूर्ण बात भी नहीं है। जगत् के प्राणियों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने का प्रश्न भी नहीं है। इस समग्र साधना का प्रधान-आधार है--"सर्वभूतात्मभूतता" अर्थात् प्राणीमात्र को आत्मीय भाव से अंगीकार करना। दूसरे शब्दों में यही अहिंसा है। अहिंसा की भूमिका पर ही व्रतों की विशाल अट्टालिका का निर्माण हुआ है।

अहिंसा से ही सर्वसमासंस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ है। मानवता के उत्थान और आत्मविस्तार का माध्यम अहिंसा ही है। अहिंसा से ही सार्वभौम शान्ति का सर्जन होगा। यही कारण है कि जैनधर्म में अहिंसा को ही धर्म एवं सदाचार की कसौटी माना गया है।

अहिंसा जैन संस्कृति की आत्मा है। अहिंसा से ही आत्मा की पुष्टि होती है। अहिंसा आध्यात्मिक जीवन की नींव है, जीवन का मूल मन्त्र है। अहिंसा दैवी शक्ति है, अहिंसा परम धर्म, और परम ब्रह्म है। अहिंसा वीरता की सच्ची निशानी है।

मानव और दानव में अहिंसा और हिंसा का ही अन्तर है। अहिंसा ही सुख-शान्ति की जननी, और जगत् की रक्षा करने वाली अलौकिक शक्ति है।

साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक कठोरतम तपश्चर्या करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ समदर्शी होकर जो मौनभंग किया तो उनके मुख से यही घोष हुआ––"मा हण, मा हण।" किसी प्राणी को मत मारो, मत मारो। किसी का छेदन न करो, न करो। किसी को परिताप न पहुंचाओ। मारोगे तो मरना पड़ेगा। छेदोगे तो छिदना पड़ेगा, भेदोगे तो भिदना पड़ेगा। परिताप पहुंचाओगे तो परितप्त होना पड़ेगा।"

भगवान् ने कहा––जो अरिहन्त अतीत-काल में हो चुके हैं, वर्तमान में विद्यमान हैं, और भविष्य में होंगे उन सब का एक ही आदेश और एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को किसी भी प्रकार से क्लेश न पहुंचाया जाय। यही धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। ज्ञानी-जनों ने पूरी तरह अनुभव करके और संसार के स्वरूप का विचार करके इस धर्म की प्ररूपणा की है।

छोटे-मोटे सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय, और सुख प्रिय है। सभी को जीवन इष्ट और मरण अनिष्ट है।

तुम अपने सुख के लिए दूसरों को सताओगे, तो दूसरे भी अपने सुख के लिए तुम्हें सताएंगे। इस प्रकार सभी जीव हिंसा के द्वारा सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करगे, तो परिणाम में दुःख ही आगे आएगा। कोई सुखी न हो सकेगा। अतएव जनधर्म ने दृढ़तापूर्वक यह विधान किया है कि भगवती अहिंसा की वरदायिनी छत्रछाया में ही वास्तविक सुख की उपलब्धि हो सकती है।

मुनि धर्म

वय और योग्यता––विश्व के समस्त धर्म त्याग को प्रधानता देते हैं। परन्तु जैनधर्म ने त्याग की जो मर्यादाएं स्थापित की हैं, वे असाधारण हैं। वैदिक धर्म के समान जैनधर्म ने त्यागमय जीवन अंगीकार करने लिए वय-विशेष का कोई निर्धारण नहीं किया है। वह नहीं कहता कि जीवन के तीन चरण बीतने के बाद अन्तिम चौथा चरण संन्यास के लिए है। जीवन क्षण-भंगुर है और कोई नहीं जानता कि कौन जीवन के चारों चरण समाप्त कर सकेगा और कौन नहीं? मृत्यु मनुष्य के मस्तक पर सदैव मंडराती रहती है और किसी भी क्षण जीवन का अन्त आ सकता है। यही कारण है कि जैन-शास्त्र आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते।

वय पर जोर न देने पर भी जैनशास्त्रों में त्यागमय जीवन अंगीकार

करने वाले व्यक्ति की योग्यता अवश्य निर्धारित कर दी गई है। जिसे शुभ तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोग को रोग और इन्द्रियविषयों को विष समझ चुका है, अतएव जिसके मानस-सर में वैराग्य की ऊर्मियां लहराने लगी हैं, वही त्यागी बनने के योग्य है।

पूर्ण विरक्त होकर, शरीर-सम्बन्धी ममत्व का भी परित्याग करके जो आत्मा-आराधना में ही संलग्न रहना चाहता है, वह मुनि धर्म अंगीकार करता है।

समाज का रक्षक, राष्ट्र का सैनिक और परिवार का पोषक बन कर ही मनुष्य पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। उसे इन कर्त्तव्यों से भी पार होकर जीवन के अन्तिम मार्ग को अकेले होकर भी पार करना पड़ता है। तभी आत्मा को सर्वोच्च सिद्धि का लाभ होता है। चरम साधना के बीहड़ पथ पर एकाकी चल पड़ने वाला साधक ही मुनि, श्रमण साधु, भिक्षु या त्यागी कहलाता है।

श्रमणत्व की उच्च भूमिका स्पर्श करने के लिए गृह-परिवार, धन सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना पड़ता है, मगर यही पर्याप्त नहीं है। सच्चा श्रमण वही है[1] जो जीवन में गहरी जड़ जमाये हुए आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा जिसके लिए मान-अपमान, निन्दा-स्तुति और जीवन-मरण एकाकार हो जाते हैं, वह तिरस्कार के गरल को अमृत बना कर पी जाता है। मगर कटुक वचन बोलकर किसी का तिरस्कार नहीं करता। वह अनीह और अनासक्त रह कर भी सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना मानता है और संसार के जीवों को मैत्री और करुणा प्रदान करता है। वह चलती फिरती संस्था बनकर जगत् में आध्यात्मिकता की उज्ज्वल ज्योति प्रज्वलित रखता है।

श्रमण का अहम् इतना विराट् रूप धारण कर लेता है कि किसी भी कृत्रिम परिधि में वह समा नहीं सकता। इसलिए वह राष्ट्रीय अहम् का समर्थन नहीं करता। उसके आगे यह सब मनोवृत्तियां संकीर्ण हैं। अवास्तविक हैं। अखण्ड जीवन के प्रति उसकी आस्था है, विभिन्न रंग-रूपों में बंटी टुकड़ियों में नहीं।

साधु संसार की भलाई से कभी विमुख नहीं होता, परन्तु उसका प्रतिफल पाने की किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखता। वह अपनी पीड़ा को वरदान मानकर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है, मगर परपीड़ा उसके लिए

---

[1] १. उत्तराध्ययन, अ० १९, गा० ८९, ९०, ९२।

असह्य होता है। यह सत्य है कि उसकी साधना का केन्द्रविन्दु आत्मोत्थान ही है, किन्तु लोककल्याण उसके आत्मोत्थान का साधन होती है। आत्मकल्याण के उद्देश्य से लोक कल्याण करने करने वाले के चित्त में अहंकार नहीं उत्पन्न होता, और इस प्रकार साधु अपनी साधना को कलुषित होने से बचा लेता है; क्योंकि उसके मन में यह भाव बराबर बना रहता है कि मैं अपनी भलाई के लिए दूसरों की भलाई कर रहा हूं। जैन साधु वह नौका है, जो स्वयं तैरती है और दूसरों को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते हैं—साधुओ! श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए लाघव—कम-से-कम साधनों से निर्वाह करना, निरीहता—निष्काम वृत्ति, अमूर्च्छा-अनासक्ति, अगृद्धि, अप्रतिबद्धता, अक्रोधता, अमानता, निष्कपटता और निर्लोभता ही प्रशस्त है।

इस प्रकार की साधना के द्वारा साधु अपने जन्म-मरण का अन्त करता है, और पूर्ण सिद्धि लाभ कर परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।

यों तो जैनशास्त्रों में साधु के आचार-विचार की प्ररूपणा बहुत विस्तार से की गई है। उसका संक्षिप्त वर्णन करने पर भी कई पुस्तकें बन सकती हैं। तथापि यहां अतिसंक्षेप में उसका दिग्दर्शन कराना है।

पांच महाव्रत

पांच महाव्रत साधुत्व की अनिवार्य शर्तें हैं। इनका भलीभांति पालन किए बिना कोई साधु नहीं कहला सकता। महाव्रत इस प्रकार हैं—

१. अहिंसामहाव्रत—जीवनपर्यन्त त्रस और स्थावर सभी जीवों की मन, वचन, काय से हिंसा न करना, दूसरों से न कराना, और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना, अहिंसा महाव्रत है।

साधु का मन अमृत कुण्ड, वाणी अमृत का प्रवाह, और काया अमृत की देह के समान होती है। प्राणी मात्र पर वह अखंड करुणा की वृष्टि करता है। अतएव वह निर्जीव हुए अचित्त जल का ही सेवन करता है। अग्निकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिए अग्नि का उपयोग नहीं करता। पंखा आदि हिलाकर वायु की उदीरणा नहीं करता। कन्द, मूल, फल आदि किसी भी प्रकार की वनस्पति का स्पर्श तक नहीं करता। पृथ्वी काय के जीवों की रक्षा के लिए जमीन खोदने आदि की क्रियाएं नहीं करता। महाव्रत-धारी स्थावर और चलते-फिरते त्रस जीवों की हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है।

२. **सत्यमहाव्रत**---मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सत्य का आचरण करना और सूक्ष्म असत्य का भी कभी प्रयोग न करना, सत्य महाव्रत है।

आत्मसाधक पुरुष सत्य को भगवान् मानता है। वह मन, वचन या काया से कदापि असत्य का सेवन नहीं करता। उसे मौन रहना प्रियतर प्रतीत होता है, फिर भी प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है। वह बिना सोचे-विचारे नहीं बोलता। हिंसा को उत्तेजना देने वाला वचन नहीं निकालता। हंसी-मजाक आदि बातों से, जिनके कारण असत्य-भाषण की संभावना रहती है, उससे दूर रहता है।

३. **अचौर्य महाव्रत**---मुनि संसार की कोई भी वस्तु, उसके स्वामी की आज्ञा लिए बिना ग्रहण नहीं करते, चाहे वह शिष्य आदि हो चाहे निर्जीव घास आदि हो। दांत साफ करने के लिए तिनका जैसी तुच्छ चीज भी आज्ञा लिए बिना नहीं लेते।

४. **ब्रह्मचर्य महाव्रत**---साधक कामवृत्ति और वासना का नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

इस दुर्धर महाव्रत का पालन करने के लिए अनेक नियमों का कठोरता के साथ पालन करना आवश्यक होता है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं---

(क) जिस मकान में स्त्री का निवास हो, उसमें न रहना।[1]

(ख) स्त्री के हाव-भाव, विलास आदि का वर्णन करना।

(ग) स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न बैठना।

(घ) स्त्री के अंगोपांगों को स्थिर दृष्टि से न देखना।

(ङ) स्त्री-पुरुष के कामुकतापूर्ण शब्द न सुनना।

(च) अपने पूर्वकालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप में मेरा नया जन्म हुआ है।

(छ) सरस, पौष्टिक, विकारजनक, राजस और तामस आहार न करना।

(ज) मर्यादा से अधिक आहार न करना। मुर्गी के अंडे के बराबर

---

[1] जैसे साधक पुरुष के लिए स्त्री का सम्पर्क वर्ज्य है, उसी प्रकार स्त्री के लिए पुरुष का सम्पर्क भी वर्जनीय है।

अधिक से अधिक बत्तीस कौर भोजन करना साधु के आहार की मर्यादा है।

(झ) स्नान, मंजन, शृंगार आदि करके आकर्षक रूप न बनाना।

५. **अपरिग्रह महाव्रत**—साधु परिग्रहमात्र का त्यागी होता है, फिर भले ही वह घर हो, धन-धान्य हो, या द्विपद-चतुष्पद हो या कुछ अन्य हो। वह सदा के लिए मन, वचन, काय से समस्त परिग्रह को छोड़ देता है। पूर्ण असंग अनासक्त, अपरिग्रह और अममत्वी होकर विचरण करता है। साधुता का पालन करने के लिए उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उनके प्रति भी उसे ममत्व नहीं होता।

यद्यपि मूर्छा को परिग्रह कहा गया है, तथापि बाह्य पदार्थों के त्याग से अनासक्ति का विकास होता है, अतएव बाह्य पदार्थों का त्याग भी आवश्यक माना गया है।

पांच समिति

पाप से बचने के लिए मन की प्रशस्त एकाग्रता, समिति कहलाती है। महाव्रतों की रक्षा के लिए पाँच प्रकार की समितियाँ साधु धर्म का आवश्यक अंग हैं। वह इस प्रकार हैं—

१. ईर्यासमिति – जीवों की रक्षा के लिए, सावधानी के साथ, चार हाथ आगे की भूमि देखते चलना।

२. भाषा-समिति – हित, मित, मधुर और सत्य भाषा बोलना।

३. एषणासमिति – निर्दोष एवं शुद्ध आहार ग्रहण करना।

४. आदाननिक्षेपणसमिति – किसी भी वस्तु को सावधानी के साथ उठाना या रखना, जिससे किसी जीव-जन्तु का घात न हो जाय।

५. परिष्ठापनिका-समिति – मल-मत्र आदि को ऐसे स्थान पर विसर्जित करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो और किसी को घृणा या कष्ट भी न हो।

तीन गुप्ति

इन्द्रियों का और मन का गोपन करना, अर्थात् उन्हें असत्य प्रवृत्ति से हटाकर आत्माभिमुख कर लेना, गुप्ति के तीन भेद इस प्रकार हैं—

१. मनोगुप्ति — मन को अप्रशस्त, अशुभ वा कुत्सित संकल्पों से हटाना।

२. वचनगुप्ति — असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक अथवा अहितकर भाषा के प्रयोग को रोकना।

३. कायगुप्ति — शरीर को असत् व्यापारों से निवृत्त करके शुभ व्यापार में लगाना, उठने बैठने, सीने, जागने आदि शारीगिक क्रियाओं में यत्ना—सावधानी रखना।

अनाचीर्ण

साधु की साधना का व्यवस्थित रूप से निर्वाह हो, इस प्रयोजन से जैनशास्त्रों में बावन अनाचीर्णों का उल्लेख कर दिया गया है। अनाचीर्ण वह कृत्य है जिनका महर्षि साधकों ने आचरण नहीं किया है। अतएव जो अनाचारणीय है, इनमें साधु की लगभग सारी त्याज्य बाह्य चर्या का समावेश हो जाता है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. औद्देशिक — अपने निमित्त बनाये हुए भोजन, पानी, मकान या किसी भी अन्य पदार्थ को ग्रहण करना।

२. नित्यपिण्ड — हमेशा एक ही घर से आहार लेना, भ्रामरी-वृत्ति का आश्रय न लेना।

३. क्रीतकृत — साधु के लिए खरीदी हुई वस्तु ले लेना।

४. अभ्याहृत — उपाश्रय में या जहां साधु ठहरा हो, वहां श्रावक आहार आदि लाकर दें और उसे ग्रहण कर लेना।

५. त्रिभक्त रात्रि में भोजन करना।

६. स्नान — नहाना।

७. गंघ — इत्र, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ काम में लाना।

८. माल्य — माला पहनना।

९. बीजन — पंखे, पुट्ठे या वस्त्र आदि से हवा करना।

१०. सन्निधि — दूसरे दिन के लिए भोजन का संग्रह कर रखना।

११. गृहिपात्र — गृहस्थ के पात्र में आहार करना।

१२. राज पिण्ड — राजा के लिए बना पौष्टिक आहार लेना।

१३. किमिच्छक दान— दानशाला आदि में जाकर सदावर्त लेना, भिखारियों को दी जाने वाली भिक्षा में से हिस्सा बंटा लेना।

१४. संवाहन — शरीर को आनन्द देने वाला तैलमर्दन करना।

१५. दन्तधावन — मंजन आदि का प्रयोग करके दांतों को चमकदार वनाना।

१६. संप्रश्न — गृहस्थों से उनकी निजी पारिवारिक बातें पूछना।

१७. देहप्रलोकन — कांच आदि में मुंह देखना।

१८. अष्टापद — जुआ खेलना।

१९. नालिक — चौपड़ आदि खेलना।

२०. छत्रधारण — सिर पर छतरी आदि ओढ़ना।

२१. चिकित्सा — रोग न होने पर भी वलवृद्धि के लिए औषध सेवन करना। चिकित्सा करवाना।

२२. उपानह — जूते, खड़ाऊं, मौजे आदि पहनना।

२३. ज्योतिरारंभ — दीपक जलाना, चूल्हा जलाना अथवा किसी भी प्रकार से अग्नि का व्यवहार करना।

२४. शय्यातरपिण्ड — जिसकी आज्ञा लेकर मकान में ठहरा हो, उसके घर से आहार लेना।

२५. आसन्दी — पलंग, खाट आदि का उपयोग करना।

२६. गृहान्तरनिषद्या — रोग, तपश्चर्या जनित दुर्वलता एवं वृद्धावस्था आदि विशेष कारण के विना गृहस्थ के घर में बैठना।

२७. गात्रमर्दन — पीठी आदि लगाना।

२८. गृहिवैयावृत्य — गृहस्थ से पैर दबवाने आदि की सेवा लेना या उसकी सेवा करना।

२९. जात्याजीविका — सजातीय या सगोत्री बनकर आहार आदि प्राप्त करना।

३०. तप्तानिवृत्ति — पूरी तरह उचित न होने पर भी, जल आदि ले लेना।

३१. आतुरस्मरण — कष्ट आने पर अपने कुटुम्बी जनों का स्मरण। करना, पत्नी-पुत्र आदि को याद करना।

३२. मूली खाना —

३३. अदरख खाना —

३४. इक्षुखंड — गंडेरियां लेना।

३५. कन्दों का उपभोग करना।

३६. जड़ी-बूटी आदि काम में लाना।
३७. सचित्त फल खाना।
३८. वीजों का भक्षण करना।

३९–४५.		सौंचल नमक, सैंधा नमक, सामान्य नमक, रोमदेशीय नमक, समुद्री नमक, पांखुखार नमक काम में लेना।
४६. धूपन	–	शरीर या वस्त्र आदि को धूप देना।
४७. वमन	–	निष्कारण मुंह में उंगली डाल कर या औषध लेकर वमन करना।
४८-४९. वस्तीकर्म	–	गुदामार्ग से कोई वस्तु पेट में डालकर दस्त करना तथा जुलाब लेना।
५०. अंजन	–	काजल या सुरमा लगाना।
५१. दन्तवर्ण	–	दांत रंगना।
५२.	–	शारीरिक वलवृद्धि के लिए कुश्ती आदि व्यायाम करना।

जैन साधु के लिए इन अनाचीर्णों का त्याग करना आवश्यक है।

बारह भावनाएँ

मनुष्य के बाह्य व्यवहार उसके मनोभावों के मूर्त्तरूप होते हैं। अतएव साधना को सजीव बनाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है। मन को साधने तथा श्रद्धा और विरक्ति की स्थिरता और वृद्धि के लिए जैन शास्त्रों में अनुप्रेक्षाओं का विधान है। पुनः पुनः 'चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। इसके वारह प्रकार हैं :—

१ **अनित्य भावना**—जगत् का प्रत्यक पदार्थ नाशशील है, अनित्य है, धन, वैभव, सत्ता परिवार आदि सव क्षण भंगुर है। लक्ष्मी संध्याकालीन लालिमा की भांति अनित्य है। जीवन जल के बुलबुले के समान है, और यौवन वादल की छाया के समान है। इनके नष्ट होने में विलम्व नहीं लगता। इन अनित्य पदार्थों के लिए नित्य आनन्द से वंचित होना बुद्धिमत्ता नहीं है।

२. **अशरण भावना**—विकराल मृत्यु के पंजे में से कोई किसी को वचा नहीं सकता। अन्तिम समय में विशाल सैन्य, वल, धन के भण्डार और वृहद परिवार कुछ काम नहीं आता। अतएव किसी पर भरोसा करना नादानी है।

३. **संसार भावना**—इस भावना में संसार के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यथा संसार में क्या राजा, क्या रंक, कोई सुखी नहीं है। प्रत्येक को किसी न किसी प्रकार का दु:ख सता रहा है। सभी संसारी जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हैं। आज जो आत्मीय है, अगले जीवन में वही पराया वन जाता है। पराया अपना हो जाता है। अतएव अपने पराये का भेदभाव कल्पना पर निर्भर है। न कोई अपना है, न पराया है।

४. **एकत्व भावना**—जीव अकेला ही जन्मता, मरता और सुख-दु:ख भोगता है। परलोक की महायात्रा के समय कोई किसी का साथ नहीं देता।

५. **अन्यत्व भावना**—जगत् के समस्त पदार्थों से आत्मा को भिन्न मानना और उस भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना, अन्यत्वभावना है।

६. **अशुचिभावना**—शरीर सम्वन्धी मोह को नष्ट करने के लिए शरीर की अशुचिता-अपावनता का पुन: पुन: चिन्तन करना वैराग्यवृद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है।

७. **आस्रव भावना**—दु:खों के कारणों पर विचार करना आस्रव-भावना है। दु:खों का कारण कर्मवन्ध है। कर्मों का वन्ध किन-किन कारणों से होता है? राग, द्वेष, अज्ञान, मोह, हिंसा, असत्य, असन्तोष, प्रमाद, कषाय आदि किस प्रकार आत्मा को कर्मों से लिप्त कर देते हैं? इत्यादि चिन्तन आस्रव भावना है।

८. **संवर भावना**—दु:खों के एवं कर्मवन्ध के कारणों का किस प्रकार निरोध किया जा सकता है। यह चिन्तन करना संवरभावना है।

९. **निर्जरा भावना**—जो कर्म पहले बन्ध चुके हैं, उन्हें किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है, इस प्रकार का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

१०. **लोकभावना**—लोक के पुरुषाकार स्वरूप का चिन्तन करना, लोकभावना है।

११. **बोधिदुर्लभ भावना**—जिससे आत्मा का उत्थान होता है, जिससे सार असार का विवेक प्राप्त होता है और जिसके प्रभाव से आत्मा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ वनता है, वह ज्ञान बोधि कहलाता है। उसकी दुर्लभता का विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है।

१२. **धर्मभावना**—धर्म के स्वरूप का और उसकी महिमा का चिन्तन करना धर्मभावना है।

चार भावना

इन बारह भावनाओं के अतिरिक्त साधक के जीवन को उन्नति के शिखर की ओर ले जाने के लिए चार भावनाएं और हैं—मैत्री, प्रमोद, करुणा, और मध्यस्थ।

१. मैत्री-भावना—जब तक साधक के अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव विकसित नहीं होता, तब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता दूसरों के प्रति आत्मीयता के भाव की स्थापना और अपनी तरह दूसरों को दुखी न करने की वृत्ति, अथवा इच्छा, मैत्री कहलाती है। मैत्री भावना का विकास होने पर मनुष्य दूसरे का कष्ट देखकर छटपटाने लगता है, और उसका निवारण करने लिए कोई कसर नहीं रखता है।

मनुष्य की हृदय भूमिका जब मैत्रीभाव से सुसंस्कृत हो जाती है, तभी उसमें अहिंसा सत्य आदि के पौधे पनपते हैं। उसके अन्तःकरण से अनायास ही यह शब्द फूट पड़ते हैं—

मित्ती मे सव्वे भूएसु।
वैरं मज्झं ण केणई॥

इस भूतल पर बसने वाले प्राणी, चाहे वे मनुष्य हों पशु-पक्षी हों अथवा कीट-पतंग हों, मेरे मित्र हैं। कोई मेरा शत्रु नहीं है। क्योंकि संसार के समस्त प्राणियों के साथ मेरा अनन्त-अनन्त बार आत्मीयता का सम्बन्ध हो चुका है।

इस प्रकार की मैत्रीभावना की परिधि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, आत्मा में समभाव का विकास होता चला जाता है और राग-द्वेष का बीज क्षीण होता जाता है। अन्त में मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है, जहां जीव मात्र में आत्मदर्शन होने लगता है। उस स्थिति में हिंसा या पर पीड़ा के लिए कोई अवकाश नहीं रहता।

२. प्रमोद भावना—गुणी जनों को देखकर अन्तःकरण में उल्लास होना प्रमोदभावना है। प्रायः मनुष्य में एक मानसिक दुर्बलता देखी जाती है। वह यह कि एक मनुष्य अपने से आगे बढ़े हुए मनुष्य को देखकर ईर्ष्या करता है। यही नहीं, कभी-कभी ईर्ष्या से प्रेरित होकर वह उसे गिराने का भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्ति का नाश न हो जाय, अहिंसा और सत्य आदि टिक नहीं सकते। इस दुर्वृत्ति को नष्ट करने के लिए प्रमोदभावना का विधान किया गया है।

३. **कारुण्य-भावना**—पीड़ित प्राणी को देखकर हृदय में अनुकम्पा होना पीड़ा का निवारण करने के लिए यथोचित प्रयत्न करना करुणा-भावना है। करुणा भावना के अभाव में अहिंसा आदि व्रत सुरक्षित नहीं रह सकते। मन में जब करुणा भावना सजीव हो उठती है तो मनुष्य अपने किसी व्यवहार अथवा विचार से किसी को कष्ट नहीं पहुंचा सकता। यही नहीं, किसी दूसरे निमित्त से कष्ट पाने वाले की उपेक्षा भी वह नहीं कर सकता।

४. **मध्यस्थभावना**—जिनसे विचारों का मेल नहीं खाता अथवा जो सर्वथा संस्कारहीन है, किसी भी प्रकार की सद्वस्तु को ग्रहण करने के योग्य नहीं है, जो गलत राह पर चला जा रहा है और सुधारने तथा सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है, उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना मध्यस्थ भावना है।

मनुष्य में प्रायः असहिष्णुता का भाव देखा जाता है। वह अपने विरोधी या विरोध को सहन नहीं कर पाता। मतभेद के साथ मन-भेद होते देर नहीं लगती। किन्तु यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए माध्यस्थभाव जगाना आवश्यक है। इस भावना से विरोधी विचार मनुष्य को क्षुब्ध नहीं करता और उसका समभाव सुरक्षित बना रहता है।

यह चार भावनाएं आनन्द का निर्मल निर्झर हैं। मनुष्य का जो आन्तरिक संताप शीतल पवन, चन्दन-लेप या चन्द्रमा की अह्लादजनक किरणों से भी शान्त नहीं हो सकता, उसे शान्त करती है। इन भावनाओं से जीवन विराट् और समग्र बनता है। जिन आध्यात्मिक गुणों के विकास के लिए साधना का पथ अंगीकार किया जाता है उनके विकास में यह उपयोगी सिद्ध होती है।

दशविध धर्म

यद्यपि जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त न कर सकने के कारण जन्म-मरण के चक्र में पड़ा है, फिर भी स्वभाव से वह अमरत्व का स्वामी है। मरना उसका स्वभाव नहीं है। अपने इस स्वभाव के प्रति अव्यक्त आकर्षण होने से ही जीव को मरना अनिष्ट है। अन्यान्य जीवधारियों में तो विवेक का विकास नहीं है, मगर मनुष्य विकसित प्राणी है। उसके सामने भविष्य का चित्र रहता है। वह जानता है कि इस जीवन का अन्त अवश्यम्भावी है। अतएव वह जब शरीर से अमर रहना असम्भव समझता है, तो किसी दूसरे रूप में अमर होने का प्रयत्न करता है। कोई कीर्ति को चिरस्थायी बना कर अमर रहना चाहता है, कोई सन्तान परम्परा के रूप में अपने नाम पर विजयस्तम्भ बनाना, अथवा

दूसरे स्मारक खड़े करना, यह सब अमर बनने की आन्तरिक प्रेरणा का ही फल है। मगर खेद है कि कोई भी भौतिक पदार्थ मनुष्य की इस अभिलाषा को तृप्त नहीं कर सकता। भौतिक पदार्थ सब नाशशील है, और जो स्वयं नाशशील है, वह दूसरे को अमर कैसे बना सकता है।

हां, अमरत्व प्रदान करने की शक्ति है कर्म में। जैनशास्त्र कहते हैं कि दशविध धर्म मनुष्य को अमर बनाता है।[1] इसी कारण जैन साधुओं के लिए इनका पालन करना आवश्यक बतलाया गया है। उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

१. क्षमा—क्षमा अहिंसा धर्म का एक विभाग है। अपराधी को क्षमा देने और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करने से जीवन दिव्य बन जाता है।

जैनशास्त्र में साधु के लिए दृढ़तापूर्वक क्षमा याचना करने का विधान है। शास्त्र कहता है साधुओ! तुमसे किसी का अपराध हो गया हो तो सारे काम छोड़ दो और सब से पहले क्षमा मांगो। जब तक क्षमा न मांग लो; भोजन मत करो, शौच मत करो और स्वाध्याय मत करो। क्षमा याचना करने से पहले मुंह का थूक गले न उतारो।

तीर्थंकरों के इस कठोर विधान का परिणाम यह है कि न केवल जैन में ही वरन् श्रावक में भी, क्षमायाचना की परम्परा अब तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। वे प्रतिदिन, प्रति पखवाड़े, प्रति चौमासी और प्रतिवर्ष खुले हृदय से अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना करते हैं। जैनों का सबसे बड़ा धार्मिक पर्व, जो पर्यूषण के नाम से विख्यात है, क्षमा याचना का ही पर्व है। उस समय समस्त जैन मुनि और श्रावक सभी जीवों से अपने से ज्ञात-अज्ञात सभी अपराधों के लिए विनम्र भाव से क्षमा मांगते हैं।

२. मार्दव—चित्त में कोमलता और व्यवहार में नम्रता होना मार्दव धर्म है। मार्दव की साधना विनय से होती है। जैन धर्म में विनय को इतना महत्व दिया जाता है कि जैन-धर्म विनयमूलक धर्म ही कहलाता है। शास्त्र कहते हैं—"धम्मस्स विणओ मूलं।" अर्थात् धर्म की जड़ विनय है।

मार्दव धर्म की सिद्धि के लिए जाति, कुल, धन, वैभव, सत्ता बल, बुद्धि

---

[1] हरिभद्र सूरि द्वारा उद्धृत, संग्रहणी गाथा, समवायांग १० समभाव स्थानांग सूत्र।

श्रुति और तपस्या आदि के मद का त्याग करना आवश्यक है। अपने आपको ऊंची जाति और उच्च कुल का समझ कर दूसरों के प्रति हीनता का भाव रखता इसी प्रकार धन, वैभव आदि के घमण्ड में आकर किसी को तुच्छ समझना मद है। साधु सब प्रकार के मदों का त्याग करके मार्दव धर्म की आराधना करते हैं।

३. आर्जव—ऋजुता अथवा सरलता को आर्जव कहते हैं। विचार, वाणी और व्यवहार की एकरूपता होने पर इस धर्म की साधना होती है। इस की साधना के लिए कुटिलता का त्याग करना अनिवार्य है।

आर्जव धर्म समाज में पारस्परिक विश्वास के लिए जितना आवश्यक है उतना ही बुद्धि की निर्मलता के लिए भी आर्जव से निर्मल बनी हुई बुद्धि वस्तु के सत्य स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ होती है। कुटिलता के त्यागी पुरुष को किसी प्रकार का छल कपट प्रपंच नहीं करना पड़ता। उसका चित्त शान्त, कलुषताहीन और सरल रहता है।

४. शौच—लोभ का त्याग करना शौच धर्म है। साधक के जीवन में रहा हुआ तुच्छ पदार्थ का लोभभी अनर्थकारक होता है, लोभ से सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव साधक को शिष्य लोभ, कीर्तिलोभ, और प्रतिष्ठा लोभ से भी दूर रहना होता है। धन-सम्पत्ति आदि भौतिक पदार्थों का लोभ तो उसे स्पर्श कर ही नहीं सकता।

५. सत्य—पांच अणुव्रतों एवं महाव्रतों के विवेचन में सत्य उल्लेख किया जा चुका है। मूल व्रतों में सत्य की गणना करके भी पुनः दश धर्मों में उसे स्थान देना , सत्य के विशिष्ट महत्व का बोधक है। जैन शास्त्रों में बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में सत्य की महिमा बखानी गई है। प्रश्न व्याकरण शास्त्र में कहा है—

"जं सच्चं तं खु भगवं।" "अर्थात् सत्य ही भगवान् है।"

इसके पश्चात् सत्य का महत्व दिखलाते हुए कहा है—सत्य ही लोक में सारभूत वस्तु है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है, मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य मण्डल से मी अधिक तेजस्वी है। शरत्कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल है और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभवान है।

६. संयम—मनोवृत्तियों पर, हृदय में उत्पन्न होने वाली कामनाओं पर' इन्द्रियों पर, अंकुश रखना संयम है।

पाश्चात्य विचारधारा से प्रेरित कई भारतीय जन भी आज लालसाओं की तृप्ति में जीवन का उत्कर्ष समझ बैठे हैं। इच्छाओं का दमन करना वे पौरुष-हीनता का चिन्ह मानते हैं। मगर इस भ्रान्त धारणा का परिणाम हमारे सामने है। मानव जाति की आवश्यकताएं दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं, और मनुष्य उनकी पूर्ति की मृगतृष्णा में परेशान हो रहा है। निरंकुश कामनाओं की बदौलत ही संसार नाना प्रकार के संघर्षों का अखाड़ा बन रहा है। कोई नहीं जानता कि मनुष्य की कामना किस केन्द्र पर जा थमेगी और कब मनुष्य की परेशानियों और संघर्षों की इतिश्री होगी ? यह जानना सम्भव भी नहीं है। क्यों—

"इच्छा हु आगास समा अणंतिया।"

जैसे आकाश अनन्त है, उसी प्रकार इच्छाएं भी अनन्त हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने से पहले ही अनेक नवीन इच्छाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है।

स्पष्ट है कि मन और इन्द्रियों को संयत किए विना और लालसाओं को काबू में किए विना, न व्यक्ति के जीवन में तुष्टि आ सकती है, और न समाज, राष्ट्र या विश्व में ही शान्ति स्थापित हो सकती है। अतएव जैसे आध्यात्मिक उन्नति के लिए संयम की आवश्यकता है, उसी प्रकार लौकिक समस्याओं को सुलझाने के लिए भी वह अनिवार्य है। भगवान् महावीर हमारा पथ प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—

"कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं।"

अर्थात्—अगर तुमने कामनाओं को लांघ लिया, तो दुःखों को भी लांघ लिया।

७. तप—जैनधर्म में तप को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तपस्या के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध होते हैं, तप असाधारण मंगल है। भगवान् महावीर ने अपने समय में प्रचलित तपस्या के संकीर्ण रूप को विशालता प्रदान की है, उस समय में धूनी तपना, कांटों पर लेटना, गर्मी के दिनों में धूप में खड़ा हो जाना, शीत में जलाशय में प्रवेश करना आदि कायक्लेश ही प्राय: तप समझा जाता था। पर जैन-दृष्टि संकुचित और बहिर्मुखी नहीं है। उनके अनुसार आत्मा के गुणों का पोषण करने वाला तप ही वास्तविक तप है। इस कारण जैनशास्त्रों में तप के दो विभाग कर दिए गए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। उपवास करना, कम खाना, अमुक रस अथवा अमुक वस्तु का त्याग कर देना आदि बाह्य तप हैं, और अपनी भूलों एवं अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित करना,

गुरुजनों का विनय करना, सेवा करना, स्वाध्याय करना और उत्सर्ग (त्याग) करना अन्तरंग तप है।

८. त्याग—अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों से विमुख हो जाना, त्याग है। जीवन में सच्चे त्याग का जब आविर्भाव होता है, तब मनुष्य कम से कम साधन-सामग्री से भी सन्तुष्ट एवं आनन्दमय रहता है। भोग-लोलुप व्यक्ति प्रचुर सामग्री पाकर भी सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता। व्यक्तियों के जीवन में त्याग-भाव जागृत करने से अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह नहीं किया जाता, परिणामतः दूसरे लोग उनसे वंचित नहीं होते, और विषमता फैलने से रुकती है।

९. अकिंचनता—किसी भी वस्तु पर ममत्व न होना, किसी भी पदार्थ को अपना न समझना, और फूटी कौड़ी भी अपने अधिकार में न रखना अकिंचनता है। ममत्व समस्त दुःखों का मूल है। जब पर-पदार्थ को अपना माना जाता है तो उसके विनाश या वियोग से दुःख होता है। जो किसी भी पदार्थ को अपना नहीं मानता, उसे दुख ही क्या? दुःख का मूल ममता और सुख का मूल समता है।

१०. ब्रह्मचर्य—सब प्रकार के विषयविकार से दूर रहकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा में विहार करना ब्रह्मचर्य है। व्रतों के प्रकरण में इसका विचार किया जा चुका है।

इन दश धर्मों का पालन करना मुनियों के लिए परमावश्यक है। श्रावकों को भी अपनी शक्ति के अनुसार पालन करना चाहिए। व्यक्ति और समष्टि की शक्ति के लिए यह धर्म कितने आवश्यक है, यह बात इन पर विचार करने से सहज समझी जाती है।[1]

निर्ग्रन्थों के प्रकार

आत्मा अनादिकाल से विकारग्रस्त चला आ रहा है। दीर्घकालीन संस्कारों से ऊपर उठना भी कठिन होता है, अनादि कालीन संस्कारों से सर्वथा ऊपर उठ जाना कितना कठिन है, यह कल्पना कर लेना सरल है। प्रयत्न करते-करते और निरन्तर सावधान रहते-रहते भी भूतकालीन संस्कार कभी-कभी उभर

---

[1] मनुस्मृति और विष्णुपुराण में भी यति धर्म के दश भेदों के नाम से इनका वर्णन किया गया है। यति शब्द से श्रमण धर्मों का ही बोध होता है।

आते हैं और इस कारण साधु जीवन की साधना में तरतमता होना अनिवार्य है। इस तारतम्य को लेकर जैनशास्त्रों में निर्ग्रन्थ श्रमणों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। उनमें से यहां श्रमणों के पांच भेदों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। ये पांच[1] प्रकार के श्रमण-निर्ग्रन्थ यह हैं——

१. **पुलाकनिर्ग्रन्थ**——गेहूं की फसल काट कर उसका ढेर किया जाता है, तो उसमें दाने कम और इतर भाग अधिक होता है, उसी प्रकार जिस निर्ग्रन्थ में गुणों की अपेक्षा दोषों की मात्रा अधिक विद्यमान है, वह पुलाक कहलाता है।

२. **बकुशनिर्ग्रन्थ**——गेहूं की कटी हुई पुआल को अलग कर दिया जाय, और बालें-बालें अलग छांट ली जायें, तो घास अपेक्षाकृत थोड़ा रह जाता है, फिर भी दानों से अधिक ही होता है। इसी प्रकार जिस निर्ग्रन्थ में पुलाक की अपेक्षा अधिक गुण हैं। फिर भी दोषों की अपेक्षा गुणों की मात्रा अधिक नहीं बढ़ सकी, वह बकुशनिर्ग्रन्थ कहलाता है।

३. **कुशीलनिर्ग्रन्थ**——कषायकुशील निर्ग्रन्थों में दो श्रेणियां होती हैं कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील। कषायकुशील निर्ग्रन्थ संयम पालता है, ज्ञानाभ्यास करता है और यथाशक्ति तपस्या करता है, फिर भी उसके अन्तःकरण में कषाय उमड़ आता है। कषाय को दबाने का प्रयत्न करने पर भी वह पूरा सफल नहीं होता। वह कटुक वचन और निन्दा सुनकर क्रुद्ध हो जाता है। आत्म प्रशंसा सुनकर अभिमान करता है और शिष्य तथा सूत्र के लोभ से छुटकारा नहीं पाता।

प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ——प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ ज्ञान की सम्यक् प्रकार से आराधना नहीं करता, दर्शन का विराधक होता है और चारित्र का तथा लिंग की विराधकता का भी उसमें दोष हो सकता है, और वह तपादि का नियाणा भी कर लेता है इसी लिए उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

५. **निर्ग्रन्थ**——निर्ग्रन्थ जो अपनी साधना के अन्तिम शिखर पर पहुंचने ही वाले हैं, जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने ही वाले हैं, वे साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

---

[1] पंच णियंठा पण्णत्ता–पुलाए, वउसे, कुसले, णियंठे सिणाए,
भगवती श० २५, उ० ६।

५. **स्नातकनिर्ग्रन्थ**--जिनकी साधना फलित हो चुकी है, जो समस्त आत्मिक विकारों को नष्ट करके वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो चुके हैं, जिन्हें जीवन्मुक्त दशा प्राप्त हो चुकी है, वे अरिहन्त स्नातकनिर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

आवश्यक क्रिया

चाहे अणुव्रती साधक हो, चाहे महाव्रती, उसे अपनी साधना को अग्रसर करने के लिए नित्य नयी स्फूर्ति, और प्रेरणा मिलनी चाहिए। इससे साधना पीछे न हट कर आगे बढ़ती जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जैनशास्त्रों में कुछ नित्यकृत्यों का विधान है। जिन्हें श्रावक और साधु दोनों करते हैं। वह नित्यकृत्य छह हैं। वह इतने आवश्यक माने गये हैं कि जैनशास्त्रों में उन्हें आवश्यक नाम से ही अभिहित किया गया है। उनका दिग्दर्शन यों है—

१. **सामायिक**--[1] राग-द्वेषमय विचारों से चित्तवृत्ति को पृथक् करके मध्यस्थ भाव में रहना सामायिक है। समस्त पापमय क्रियाओं का त्याग करके दो घड़ी पर्यन्त समभाव के सरोवर में अवगाहन करना श्रावक की सामायिक क्रिया है। साधु की सामायिक जीवन पर्यन्त रहती है। क्योंकि साधु सदैव समभाव में रमण करते हैं।

२. **स्तवन**--तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करना। तीर्थंकर देव आदर्श महापुरुष हैं। जिन्होंने आत्मशुद्धि का चरमरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उनके गुणों के कीर्तन से, कीर्तन करने वाले को अपने निज के स्वाभाविक गुणों का परिचय एवं स्मरण होता है। उन गुणों को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और दृष्टि निर्मल होती है।

३. **वन्दना**--पूजनीय पुरुषों के प्रति मन, वचन, काय के द्वारा आदर प्रकट करना वन्दना है। पांच परमेष्ठी पूजनीय हैं।

४. **प्रतिक्रमण**--प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ है--पीछे फिरना, लौटना। तात्पर्य यह है कि प्रमाद के कारण शुभ संकल्प से विचलित होकर अशुभ संकल्प में चले जाने पर पुनः शुभ संकल्प की ओर आना प्रतिक्रमण कहलाता है। इस आवश्यक क्रिया में अंगीकार किए हुए व्रतों में त्रुटियां, भूलें हो गई हों, उनका चिन्तन करके पश्चात्ताप किया जाता है।

---

[1] आवश्यक सूत्र।

साधु और श्रावक के व्रत पृथक्-पृथक् हैं, अतएव दोनों का प्रतिक्रमण भी भिन्न-भिन्न है।

प्रतिक्रमण के पांच भेद हैं—

१. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चतुर्मासिक और ५. सांवत्सरिक।

दिन भर में हुए दोषों का संध्यासमय चिन्तन करना (प्रतिक्रमण करना) दैवसिक और रात्रि संबंधी दोषों का प्रातःकाल चिन्तन करना रात्रिक प्रतिक्रमण कहलाता है। पन्द्रह दिन के दोषों का चिन्तन करना पाक्षिक, चार मास के दोषों का चिन्तन करना चातुर्मासिक और वर्ष भर के दोषों का प्रतिक्रमण करना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण प्रतिदिन सन्ध्या और प्रातः समय किए जाते हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा और अमावस्या के दिन संध्यासमय, चातुर्मासिक आषाढ़ी, कार्तिकी और फाल्गुनी पूर्णिमा को तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण भाद्रपद मास में पर्यूषण पर्व के अन्तिम दिन किया जाता है।

५. **कायोत्सर्ग**—शरीर सम्बन्धी ममत्व को हटाने का अभ्यास करना कायोत्सर्ग आवश्यक है। इससे देहाध्यास हटता है, और समभाव का विकास होता है।

६. **प्रत्याख्यान**—इच्छाओं का निरोध करने के लिए प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है। आहार, वस्त्र, धन आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना, द्रव्य-प्रत्याख्यान और राग-द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

साधना की कठोरता

जैन श्रमण की आचार-पद्धति संसार में मुक्तिसाधना की कठोरतम प्रणाली है। केशलुंचन, भूमिशैय्या, पैदल विहार, अनियत वास अर्थात वर्षाकाल को छोड़ कर ग्राम नगर में एक मास अथवा सात दिन से अधिक न ठहरना, फूटी कौड़ी भी पास में न रखना, साथ ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत जागृत रहना, अन्तःकरण में कलुषता न आने देना, भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी डांस-मच्छर का दंशन आदि के कष्टों को धैर्य के साथ सहन करना, हमेशा हरेक वस्तु याचन करके ही ग्रहण करना, आहार-पानी का लाभ न होने पर

विषाद न करके उसे तपस्या का लाभ मान लेना आदि ऐसी चर्या है, जिसके लिए जीवन को एक खास तरह के सांचे में ढालने की आवश्यकता होती है।

साधना का आधार

इससे पहले साधु-जीवन की चर्या का जो उल्लेख किया गया है, उससे पाठक को यह ख्याल अवश्य आ जाएगा कि जैन-साधु वैराग्य और त्याग की साक्षात् प्रतिमा होता है। उस के त्याग-वैराग्य का आधार क्या है ? यह प्रश्न खड़ा हो सकता है। इस का उत्तर शास्त्रों में दिया गया है।

वास्तव में इस उग्र साधना का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, असीम आनन्द और विराट् चेतना का धनी होकर भी कर्म उपाधि के कारण सांसारिक दुःख का भाजन बन रहा है। कर्म की उपाधि इस साधना के बिना नष्ट नहीं हो सकती। इसी कारण साधु इस साधना को स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करता हैं।

वैराग्य की क्षणिक तरंग में बह कर साधु बन जाने से काम नहीं चलता। ऐसा करने वाला व्यक्ति न इधर का और न उधर का ही रहता है, ऐसे अस्थिर-चित्त लोगों को सावधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"तू जिस श्रद्धा के साथ घर छोड़कर निकला है, जीवन के अन्तिम श्वास तक उसी श्रद्धा का निर्वाह कर।"

जिस श्रद्धा और विरक्ति से प्रेरित होकर मनुष्य श्रमणत्व अंगीकार करता है, जीवन-पर्यन्त उसको स्थायी बनाए रखना साधारण बात नहीं। उसके लिए श्रमण को क्षण भर का भी प्रमाद न करके निरन्तर जागृत रहना पड़ता है। भगवान् महावीर ने कहा है—

> सुत्ता अमुणी,
> मुणिणो सया जागरंति, आचारांग।

"जो प्रमाद में पड़ जाता है, वह मुनित्व से च्युत हो जाता है, अतएव मुनिजन सदैव जागते रहते हैं।" सतत जागृति को बनाए रखने के लिए जैन-शास्त्रों में साधुओं के लिए विविध उपायों का निर्देश किया गया है। जिनका विस्तार-भय से यहां उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

मृत्युकला (संलेखनाव्रत)

जैनदृष्टि के अनुसार धर्म एक कला है और धर्मकला का स्थान समस्त कलाओं में सर्वोपरि है। "सव्वा कला धम्मकला जिणई" अर्थात् धर्मकला सब कला को जीतती है। धर्मकला जैसे सर्वोच्च है, उसी प्रकार सर्वव्यापक भी है। जैसे जीवन के प्रत्येक व्यापार में वह ओत-प्रोत रहनी चाहिए, उसी प्रकार मृत्यु में भी जगत् के सभी धर्मोपदेष्टाओं और नीतिप्रणेताओं ने जीवन की कला का रूप मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मगर मृत्यु जो जीवन का ही दूसरा पहलू या अनिवार्य परिणाम है—की कला का सुन्दर निदर्शन भगवान् महावीर ने कराया है, जैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता है।

मृत्यु की कल्पना भी अत्यन्त भयावह है। संभवतः संसार में अधिक से अधिक भयंकर कोई वस्तु है, तो वह मौत ही है। पर भगवान् महावीर जैसे अनूठे कलाकार ने उसे भी उत्कृष्ट कला का रूप प्रदान किया है। उस कला की साधना में सफलता प्राप्त कर लेने वाला साधक ही अपनी साधना में उत्तीर्ण समझा जाता है। जीवन कला की साधना के पश्चात् भी मृत्युकला की साधना में जो असफल हो जाता है, वह सिद्धि से वंचित ही रह जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा है—"मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है। मृत्यु कोई विकराल दैत्य नहीं है। मृत्यु मनुष्य का मित्र है, और उसे जीवन भर की कठिन साधना को सत्फल की ओर ले जाती है। मृत्यु सहायक न बने तो मनुष्य ऐहिक धर्मानुष्ठान का पारलौकिक फल-स्वर्ग और मोक्ष—कैसे प्राप्त कर सकता है?"

कारागार से मनुष्य को मुक्त करने वाला उपकारक होता है। तो इस शरीर के कारागार से छुड़ा देने वाली मृत्यु को क्यों न उपकारक माना जाय।

इस कृमिकुल से संकुल एवं जर्जर देह रूपी पिंजड़े से निकालकर दिव्य देह प्रदान करने वाली मृत्यु से अधिक उपकारक और कौन हो सकता है?

वस्तुतः मृत्यु कोई कष्टकर व्यापार नहीं बरन् टूटी-फूटी झोंपड़ी को छोड़कर नवीन मकान में निवास करने के समान एक आनन्दप्रद व्यापार है! किन्तु अज्ञान जनित ममता इस नफे के व्यापार को घाटे का व्यापार बना देता है, और अज्ञानी जीव को अपने परिवार और भोगसाधनों के विछोह की कल्पना करके मृत्यु के समय हाय-हाय करता है, तड़पता है, छटपटाता है और

आकुल-व्याकुल हो जाता है, परन्तु तत्त्वदर्शी पुरुष अनासक्त होने के कारण मध्यस्वभाव में स्थिर रहता है और जीवन भर की साधना के मन्दिर पर स्वर्ण-कलश चढ़ा लेता है। वह परम शान्त एवं निराकुल भाव से अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है, और इस प्रकार अपने वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी मंगलमय बना लेता है। संयम और धर्म मर्यादाओं में आबद्ध जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। श्रमणधर्म का कठोर साधना से जीवन की उद्दाम और उच्छृंखल वृत्तियों का नियन्त्रित करना संयमी पुरुष के लिए आवश्यक है। जैन धर्म जीवन से पलायनवादी नीति पर विश्वास नहीं रखता, अपितु संयम और संतोष, स्वाध्याय और तप विवेक और वैराग्य द्वारा इसी जीवन में आध्यात्मिक शक्तियों का विकास सर्वज्ञपद पा लेना ही, वह ध्येय सिद्धि मानता है। जैनधर्म कहता कि "जब तक जीओ, विवेक और आनन्द से जीओ, ध्यान और समाधि की तन्मयता में जीओ, अहिंसा और सत्य के प्रसार के लिए जीओ, और जब मृत्यु आवे तो आत्म-साधना की पूर्णता के लिए, पुनर्जन्म में अपने आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धि के लिए अथवा मोक्ष के लिए, मत्यु का भी, समाधिपूर्वक वरण करो। मृत्यु के आने से मन की एकाग्रता, ध्यान तन्मयता तथा तदाकारता का आनन्द लो। किन्तु जगत् में जीवन को ऐच्छिक इष्ट, प्रिय और सुखद समझा गया है, और मृत्यु को अप्रिय, भयावह, तथा अनिष्टकारक माना गया है। यही कारण है कि मृत्यु के समय साधक यदि मोह का त्याग न कर पाया तो जीवन की साधना पर कालिख पुत जाती है और दोनों जन्म बर्बाद हो जाते हैं। भगवान् ने मृत्यु विज्ञान के विशद विवेचन में मृत्यु के भी १७ प्रकार बताये हैं :—

१. आवीचिमरण — क्षण-क्षण में आयुक्षय होती है, यह क्षण-क्षण का मरण है, मृत्यु।
२. तद् भवमरण — शरीर का अन्त, देहान्त हो जाना।
३. अवधि मरण — आयुपूर्ण होने पर मृत्यु का होना।
४. आद्यन्तमरण — दोनों भवों में एक ही प्रकार की मत्यु का होना।
५. बालमरण — ज्ञानदर्शन हीन होकर विष-भक्षण आदि से मरना।
६. पण्डित मरण — समाधि भाव के साथ देह त्याग करना।
७. आसन मरण — संयम पुष्ट होकर मरना।
८. बालपण्डित मरण — श्रावकपने में मरण अर्थात् अणुव्रत ही धारण कर मरना।

९. सशल्य मरण – परलोक की सुखाशा के साथ था मन में कपट लेकर मरना।

१०. प्रमाद मरण – संकल्प विकल्प से मुक्त होकर जीवन त्याग करना।

११. वशात् मत्यु – इन्द्रियाधीन अथवा कषायाधीन होकर मरना

१२. विपुल मरण – संयमशील व्रत आदि पालन में असमर्थता देख अपघात करना।

१३. गृद्धपृष्ठ मरण – युद्ध के मैदान में लड़ते हुए मरना।

१४. भक्तपान मरण – विधिपूर्वक त्याग करके मरना।

१५. इंगित मरण – समाधिपूर्वक मरण।

१६. पादोप गमन मरण – आहार आदि त्याग कर वृक्ष के समाननिश्चल। भाव से मरना।

१७. केवलि मरण – केवल ज्ञान हो जाने के बाद निर्वाण प्राप्ति।

इन मृत्यु के भेदों में बालपण्डित मरण, पण्डित मरण तथा अन्तिम शेष के चार मरण, जैनधर्मानुकूल मरण हैं। जैनधर्म ने मृत्यु के समय समाधि मरण के निमित्त अभ्यस्त हो जाने के लिए संथारा, संल्लेखना, तथा संस्तारक-विस्तार पर सोने के समय रात्रि को भी सागारी संथारा करने का विधान किया है। प्रति-रात्रि इस प्रकार संथारा करने से समाधि मरण की कला का ज्ञान भी हो जाता है, और अकस्मात् सोते-सोते ही मत्यु हो जाये तो जगत् के मोह की पाप क्रिया भी नहीं लगती। इस संथारे में अन्तर इतना ही होता है कि यह सागारी संथारा कहलाता है, अर्थात् सोकर उठने पर, अथवा रोग शान्त हो जाने पर, कष्ट विकल जाने पर यह नियम समाप्त किया जा सकता है। क्योंकि संथारे की मर्यादा लेने पर व्यक्ति का जगत् की अथवा अपनी ही किसी भी उपाधि पर अधिकार नहीं रहता। मृत्यु कला में शिक्षा भी यही दी जाती है जिससे मरने के समय साधक ममत्व का पूर्णतः त्याग कर सके। इसी लिए सभी प्रकार की मृत्यु में से समाधि मरण को ही श्रेष्ठ माना गया है।

यह विवेकयुक्त समाधिमरण, पण्डितमरण और सकाममरण भी कहलाता है। प्राणान्तकारी संकट, दुर्भिक्ष, जरा अथवा असाध्य रोग होने पर, जब जीवन का रहना संभव न प्रतीत हो, समाधि मरण अंगीकार किया जाता है। जैनशास्त्रों में समाधि मरण का विस्तृत वर्णन है। इसे मृत्युमहोत्सव की भाव पूर्ण संज्ञा दी गई है और अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद करके इसका विशद वर्णन किया गया है।

समाधिमरण अंगीकार करने वाला महासाधक सब प्रकार की मोह-ममता को दूर करके शुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन में लीन होकर समय यापन करता है। उसे पाँच दोषों से बचने के लिए सतर्क किया गया है :—[1]

१. इहलोकाशंसा — ऐहिक सुखों की कामना करना।
२. परलोकाशंसा — पारलौकिक सुखों की कामना करना।
३. जीविताशंसा — समाधिमरण के समय पूजा-प्रतिष्ठा होती देख कर अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना।
४. मरणाशंसा — भूख, प्यास या रोगजनित व्याधि से कातर होकर जल्दी मरने की इच्छा करना।
५. कामभोगाशंसा — इन्द्रियों के भोगों की आकांक्षा करना।

समाधिमरण लेने वाले महात्मा को इन पाँच दोषों से बचना चाहिए, और पूर्ण समभाव में स्थित होकर समाधिमरण के परमानन्द को कलुषित नहीं करना चाहिए।

भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट मृत्युकला का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इस कला की उपासना श्रावक और साधु दोनों को करनी चाहिए।

---

[1] उपासकदशांक-सूत्र, अ० १, भगवती, शतक १३, उ० ८ पा० ३०।

जम्बूद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

गोयमा ! जम्बूद्दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जस्सति ।

—भगवती, श० २, उ० ८ ।

"हे भंते ! अरिहंत भगवंत द्वारा प्रवर्त्तित यह धर्म-तीर्थ इस अवसर्पिणी काल में जम्बूद्वीप के भारत देश में कब तक चलेगा ?"

"हे गौतम ! मेरा धर्म तीर्थ इसी अवसर्पिणी काल में जम्बूद्वीप के भारत देश में २१ हजार वर्ष तक चलेगा ।"

जैन-धर्म की परम्परा

जैन धर्म की परम्परा

भारत के आध्यात्मिक निर्माण में जैनाचार्यों का योगदान

भारत के सांस्कृतिक निर्माण में जैनाचार्यों की कितनी महत्त्वपूर्ण देन है, इस संबंध में अब तक कोई व्यवस्थित विचार नहीं किया गया है। किन्तु असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अपने उच्च कोटि के त्यागमय और संयमपूर्ण जीवन और उपदेशों से भारत की संस्कृति को बहुत प्रभाविन किया है। उनकी देन अनूठी है। जब हम पूर्व, दक्षिण और उत्तर के अन्तर्मानस का साक्षात्कार करना चाहेंगे, तो हमें चलचित्र की भाँति जैनाचार्यों की भव्य झाँकियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिनका प्रभाव आज तक भारत की कला और जन-जन के मानस पर अक्षुण्ण एवं व्यापक रूप से पड़ा है।

भगवान् महावीर से १७० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाले महान् आचार्य भद्रबाहु को कौन भुला सकता है, जिन्होंने अपने योगबल से भविष्य को जानकर मगध की जनता और सम्राट् चन्द्रगुप्त को द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष का संकेत किया था। उन्हीं के उपदेशों का फल था कि सम्राट् चन्द्रगुप्त उनके साथ दक्षिणयात्रा में गया, भिक्षु बना, और अन्त में जैनविधि के अनुसार समाधिमरण करके कृतकृत्य हो गया।

आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण प्रवास के परिणाम बड़े दूरगामी, स्थायी प्रभाव

वाले, और अनोखे सिद्ध हुए। इस प्रवास के फलस्वरूप मगध का जैन संघ दो भागों में बँट गया। इसका दुष्परिणाम दिगम्बर-श्वेताम्बर के सम्प्रदाय भेद के रूप में प्रकट हुआ, मगर दूसरा महत्त्वपूर्ण सुफल यह हुआ कि उन्होंने दक्षिण के (कलभ्र, होयसेल, गंग आदि) के राजवंशों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जैनधर्म और अहिंसा का जो प्रभाव छोड़ा, वह आर्यों और द्रविड़ों की एकता का कारण बना। महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु पूर्व और उत्तर के मधुर सम्मिलन की प्रथम कड़ी थे।

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के शिष्य गुणसुन्दर ने सम्राट् सम्प्रति की सहायता से भारत के विभिन्न प्रान्तों के अतिरिक्त अफगानिस्तान, यूनान और ईरान आदि एशिया के समस्त राष्ट्रों में जैन धर्म का व्यापक प्रचार किया।

सूत्रयुग के प्रतिष्ठापक उमास्वाति, भारत के महान् दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने जैन तर्कशास्त्र को व्यवस्थित रूप प्रदान किया और आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना करके और स्वामी सामन्तभद्र ने तर्कशास्त्र की प्रतिष्ठा करके जैन साहित्य को समृद्ध बनाया।

जब हम विक्रम की पहली सहस्राब्दी पर दृष्टि दौड़ाते हैं, तो सहसा हमें अनेकों विभूतियाँ दिखाई देती हैं, जिन्होंने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट करने में सराहनीय प्रयत्न किया है। देवर्धिगणीक्षमाश्रमण, जिनभद्रगणीक्षमाश्रमण अभयदेव, हरिभद्र, शीलांक, धनेश्वर सूरि, कालिकाचार्य, जिनदास महत्तर आदि और दूसरी सहस्राब्दी के कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, वादी देव सूरी, यशोविजय आदि वे आचार्य हैं, जिन्होंने धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक विचारों से देश को सम्पन्न बनाया है। दूसरी तरफ आचार्य गणधर, भूतवली, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, पात्रकेसरी, अकलंक, विद्यानन्दी, सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र जिनसेन, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र आदि भी हैं जिन्होंने दक्षिण और उत्तर को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया है।

भारत के निर्माण में जैनाचार्यों का योगदान यद्यपि मुख्यतया आध्यात्मिक रहा है, तथापि गुजरात का साम्राज्य कुमारपाल को अहिंसा की दीक्षा, तथा दक्षिण में विजय नगर की राज्य-व्यवस्था में अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा विहार और मथुरा प्रदेशों में, अहिंसक वातावरण उत्पन्न करने में भी इन्हीं आचार्यों का योग रहा है।

जब तक भारतवर्ष में अहिंसा और भूतदया, निरामिष भोजन, दुर्व्यसनों के प्रति घृणा, मद्यपान एवं चारित्रिक निर्बलताओं के विरुद्ध जो सामूहिक भावना दिखाई देती है उसके पीछे जैनाचार्यों का प्रबल हाथ रहा है।

जैनाचार्यों ने तथा जैन साधुओं ने अहिंसा, तप, त्याग की कसौटी पर जो उज्ज्वल स्वरूप विश्व के सामने रखा है, वह आज भी भारत के लिए गौरव की वस्तु है।

सौराष्ट्र में अहिंसक भावना को जो उल्लेखनीय प्रश्रय मिला है, वह जैनाचार्यों की ही देन है। उसका फल अनेक रूपों में हमारे सामने आया। स्वामी दयानन्द ने वेदों का जो अहिंसापरक अर्थ किया और महात्मा गांधी ने जो अहिंसा-नीति अपनाई, उसके पीछे सौराष्ट्र का अहिंसामय वातावरण ही कारण है। गांधी जी को तो जैन सन्त बेचर स्वामी ने विलायत जाने से पूर्व मद्य, मांस और परस्त्री-गमन का त्याग करवाया था। कवि राजचंद भाई ने उन्हें पूर्ण अहिंसक बना दिया।

आज संसार अहिंसा की ओर बढ़ने की सोच रहा है। यह प्रसन्नता की बात है। किन्तु जैन संघ ने हिंसा से भरी विगत शताब्दियों में अहिंसा की जो दिव्य ज्योति जलाए रक्खी, वह उसकी भारत को, विश्व को और समस्त मानवता को सब से बड़ी देन है।

राजाओं का योगदान

भारतीय इतिहास का गहरा आलोड़न करने वाले कुछ विद्वानों का मत है कि ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक ज्ञान क्षत्रियों से प्रारंभ होकर ब्राह्मणों के पास पहुँचा। जैन इतिहास इस अभिमत की पुष्टि करता है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों का जन्म राजवंशों में ही हुआ था। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में अनेकानेक जैन राजा भी हुए। चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होंने जैनेन्द्रीय दीक्षा धारण की, और जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में योग दान दिया। उन सब का इतिहास आज उपलब्ध नहीं। तथापि भ० महावीर के समसामयिक और उनके पश्चाद्वर्ती कुछ राजाओं का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा, जिन्होंने जैन धर्म की प्रभाव-वृद्धि में योग देकर अपने को धन्य बनाया है।

चेटक तथा अन्य राजा—राजा चेटक भगवान् के प्रथम श्रमणोपासक थे। वैशाली के अत्यन्त प्रभावशाली और वीर राजा थे। वह अठारह देशों के गणराज्य के अध्यक्ष थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि—मैं अपनी कन्याएँ जैन के सिवाय किसी अन्य को नहीं दूंगा। नीति की प्रतिष्ठा और शरणागत की रक्षा के लिए चेटक को एक बार मगधराज कूणिक के साथ भीषण संग्राम करना पड़ा था।

सिन्धु सौवीर के उदयन, अवंती के प्रद्योत, कौशाम्बी के शतानीक

चम्पा के दधिवाहन, और मगध के श्रेणिक राजा, चेटक के दामाद थे। यह सभी राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। राजा उदयन ने तो भगवान् के निकट दीक्षा ग्रहण की थी।

श्रेणिक और कूणिक—इतिहासप्रसिद्ध मगधाधिपति बिम्बसार, जैन साहित्य में श्रेणिक नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उनकी गाथाएँ जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं। श्रेणिक के पुत्र सम्राट् कूणिक भी भगवान् के परम भक्त थे। कूणिक के पुत्र उदयन ने भी जैन धर्म की ही शरण गही थी।

काशी-कौशल के अठारह लिच्छवी, और मल्ली राजाओं ने भगवान् महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया था। इससे प्रतीत होता है कि यह सब राजा जैन धर्म से प्रभावित थे।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त जैनधर्म के अनुयायी थे। भद्रबाहु स्वामी के निकट, मुनि दीक्षा अंगीकार करके मैसूर (दक्षिण) गये। श्रमण-बेलगोला की गुफा में आत्मसाधना की। इनके मंत्री चाणक्य भी जैनधर्मी थे और जैन श्रावक गणी के पुत्र थे।

सम्राट् अशोक—अशोक चन्द्रगुप्त के पौत्र थे। उन्होंने अहिंसा की जो सेवा की है, वह प्रसिद्ध है। "अर्ली फेथ आफ अशोक" नामक पुस्तक के अनुसार अशोक ने अहिंसा विषयक जो नियम प्रचारित किये, वे बौद्धों की अपेक्षा जैनों के साथ अधिक मेल खाते थे। पशु-पक्षियों को न मारने, निरर्थक जंगलों को न काटने, और विशिष्ट तिथियों एवं पर्वदिनों में जीवहिंसा बंद रखने आदि के आदेश जैन धर्म से मिलते हैं।

सम्राट् सम्प्रति—सम्प्रति अशोक के पौत्र थे। यह एक बार युद्ध में विजय प्राप्त करके खुशी-खुशी माता के पास पहुँचे। देखा, माता के चेहरे पर प्रसन्नता के बदले, आँखों में आँसू हैं। कारण पूछने पर माता ने बतलाया—नरसंहार करके प्राप्त की गई विजय, सच्ची विजय नहीं। सच्ची शान्ति अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इत्यादि उपदेश सुन कर सम्प्रति ने प्रख्यात जैन मुनि आर्य सुहस्ती से जैनधर्म अंगीकार किया। सम्राट् सम्प्रति ने अनार्य देशों में जैन धर्म के प्रचार के उद्देश्य से, जैनधर्माराधकों के लिए धर्मस्थानों की व्यवस्था करवाई थी। अनार्य प्रजा के उत्थान के लिए सम्प्रति ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसने धर्मप्रचारक भेजकर जैनधर्म की शिक्षाएँ प्रसारित कीं। अनेक विद्वानों का

मत है कि आज जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, संभव है वे सम्प्रति के लिखवाये हुए हों।

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल—ईस्वी सन् से पूर्व दूसरी शताब्दी में महाराजा खारवेल हुए। उस युग की राजनीति में खारवेल सब से अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। उनके समय में जैनधर्म का खूब उत्कर्ष हुआ। उनके प्रयास से जैन साधुओं तथा जैन विद्वानों का एक महा-सम्मेलन हुआ। जैन-संघ ने उन्हें महाविजयी खेमराजा तथा भिक्षुराजा और धर्मराजा की भी पदवी प्रदान की। जैनधर्म के प्रति की गई खारवेल की सेवाएँ बहुमूल्य हैं। वह अत्यन्त प्रतापी राजा हुए हैं।

कलचूरी और कलभ्रवंशी राजा—कलचूरि राजवंश मध्यप्रान्त का सबसे बड़ा राजवंश था। आठवीं-नौवीं शताब्दी में उसका प्रबल प्रताप चमक रहा था। इस वंश के राजा जैनधर्म के कट्टर अनुयायी थे। त्रिपुरी इनकी राजधानी थी। प्रो० रामस्वामी आयंगर का कथन है कि इनके वंशज आज भी जैन कलार के नाम से नागपुर के आस-पास मौजद हैं।

होयसेल वंशी राजा—होयसेल वंश के अनेक राजा, अमात्य और सेनापति जैनधर्म के अनुयायी थे। सुदत्त मुनि इस वंश के राजगुरु थे। पहले यह चालुक्यों के माण्डलिक थे, पर १११६ में उन्होंने स्वतंत्र राज्य की प्रतिष्ठा की थी।

गंगवंशी राजा—ईसा की दूसरी सदी में गंग राजाओं ने दक्षिण प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया। ग्यारहवीं सदी तक वे विस्तृत भूखण्ड पर शासन करते रहे। यह सब राजा परम जैन थे। इस वंश के प्रथम राजा माधव थे, जिन्हें कोंगणी वर्मा भी कहते हैं। वह जैनाचार्य सिंहनन्दि के शिष्य थे। उनके समय में जैनधर्म, राजधर्म बन गया था। इसी वंश का दुर्विनीत राजा प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य पूज्यपाद का शिष्य था। एक और राजा मारसिंह ने अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त करके, ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके अन्त में भिक्षु का पद अंगीकार किया। जैनाचार्य अजितसेन से पादमूल में समाधिमरणपूर्वक आयु पूर्ण की। शिलालेख के आधार से उनकी मृत्यु ई० स० ९७५ में हुई।

इस वंश की महिलाएँ भी जिनेन्द्र देव की महान् उपासिकाएँ थीं। राजा मारसिंह द्वितीय के सुयोग्य मंत्री चामुण्डराय थे। मारसिंह के पुत्र राजमल्ल के वह प्रधानमंत्री, और सेनापति हुए। वह दृढ़ जैनधर्मानुयायी थे। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र चामुण्डराय के धर्मगुरु थे। कनड़ी भाषा में लिखित "त्रिषष्ठिलक्षण" महापुराण उनकी प्रसिद्ध रचना है। इन्हीं चामुण्डराय ने श्रमण वेलगोला में,

वाहुवली स्वामी की भव्य एवं विशाल मूर्ति एक पहाड़ी में से कोतरवाई है। ५६ फुटी ऊँची यह मूर्ति भारतवर्ष की दर्शनीय वस्तुओं में अन्यतम है।

राजा शिवकोटि—दक्षिण भारत में कांची के राजा शिवकोटि ने प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र के उपदेश से जैनधर्म अंगीकार किया, और उसके प्रचार में अच्छा योग दिया।

राजा आमने—ग्वालियर के राजा आमने को सिद्धसेन के प्रसिद्ध शिष्य आचार्य वप्पभट्टि ने जैनधर्म की दीक्षा दी थी।

परमार्हत राजा कुमारपाल—गुजरात के राजा थे। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपने जीवनकाल में जैनधर्म की सराहनीय सेवा की है। मांसाहार, शिकार आदि हिंसक प्रवृत्तियों की निषेधाज्ञा घोषित करके अहिंसा की प्रतिष्ठा की। कुमारपाल का इतिहास प्रकाश में आ चुका है। गुजरात की संस्कृति में जैनत्व की जो झलक आज भी दृष्टिगोचर होती है, उसका वहुत कुछ श्रेय आचार्य हेमचन्द्र और उनके प्रिय शिष्य कुमारपाल को है। कुमारपाल को परमार्हत का जो प्रद प्राप्त हुआ, उसमें तनिक भी अनौचित्य नहीं है।

राष्ट्रकूटवंशी राजा और अमोघवर्ष—राष्ट्रकूटवंशी राजा भी अपने समय के प्रतापी राजा थे और जैनधर्म के परम भक्त अनुयायी थे। उनके राज्यकाल में जैनधर्म का खूब अभ्युदय हुआ।

इन राजाओं में भी अमोघवर्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये जैनाचार्य जिनसेन के शिष्य थे। इनके शासन में जैनधर्म खूब फूला-फला। अमोघवर्ष एक विद्वान् राजा थे, उन्होंने "प्रश्नोत्तररत्नमालिका" ग्रंथ का निर्माण किया है। अंग, वंग, मगध, मालवा, चित्रकूट और वेंडि के राजा अमोघवर्ष की सेवा में रहते थे। गुजरात सहित दक्षिण प्रदेश पर उनका शासन था। अन्तिम समय में राज-पाट त्याग कर वह मुनि वन गये थे।

अमोघवर्ष के पुत्र अकालवर्ष, और अकालवर्ष के पुत्र राजा इन्द्र भी जैनधर्म के दृढ़ अनुयायी थे। इन्द्र ने भी मुनि दीक्षा अंगीकार की थी।

वनराज चावड़ा और चालुक्य राजा—गुजरात में विविध प्रख्यात वंशों के राजा जैनधर्मानुयायी हो गये हैं। चावड़ावंश के प्रसिद्ध राजा वनराज शीलगुण सूरि के शिष्य थे। उनके पश्चाद्वर्ती चालुक्यवंशी राजा भी जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे।

सिद्धराज जयसिंह—सिद्धराज जयसिंह ने यद्यपि विधिवत् जैनधर्म अंगीकार नहीं किया, परन्तु जैनधर्म के प्रति उन्हें गहरा अनुराग था। आचार्य हेम-

चन्द्र से वह बहुत प्रभावित थे। उन्हीं की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने "सिद्धहेम-शब्दानुशासन" व्याकरण की रचना की थी।

गुजरात का राजा मूलराज भी जैनधर्म का अनुरागी था।

मंत्री और सेनापति—भारत में मंत्रित्व और सेनापतित्व का कार्य जिस कुशलता और सूझ-बूझ के साथ जैन श्रावकों ने किया वह इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों का निर्माण करने वाला है। जैन मंत्री और सेनापति इतनी अधिक संख्या में हो चुके हैं, कि उनकी गणना करना भी संभव नहीं है।

जैनमंत्रियों में वस्तुपाल और तेजपाल का नाम इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति है। संभवत: विश्व में वे बेजोड़ मंत्री हो गये हैं। दोनों भाई बाघेला वंश के राजा वीरधवल के मंत्री थे। राजनीति के पण्डित और जैनधर्म के अनन्य भक्त होकर भी समस्त धर्मों के प्रति उदार थे। उनकी उदारता, विस्मयजनक दान-वीरता और धर्मनिष्ठा का यहाँ विस्तार-भय से उल्लेख नहीं किया जा सकता।

मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह के प्रधान मंत्री भामाशाह जैन से कौन परिचित नहीं है ?

जयपुर राज्य का मंत्री-पद चिरकाल तक जैनों ने ही सुशोभित किया था। अजमेर के राजा विजयसिंह के सेनापति धनराज सिंघवी जैन थे। गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव के सेनाध्यक्ष आभु जैन वीर थे।

राजस्थान के अनेक राज्यों की स्थापना में जैन वीरों का उल्लेखनीय हाथ रहा है। तात्पर्य यह है कि अपनी प्रामाणिकता और राजनीतिक कुशलता के कारण जैनों ने राजनीति के क्षेत्र में भी बहुमूल्य कार्य किया है और साथ ही वीर संघ को प्रभावशाली बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

जैन धर्म का प्रसार

जैन धर्म भारत का ऐतिहासिक धर्म है। भगवान् ऋषभ-देव से लेकर आज तक उसकी अक्षुण्ण परम्परा चली आ रही है। जैनधर्म आत्म-धर्म है, वह सदा से ही आत्मदमन, इन्द्रिय-संयम, वैचारिक समन्वय को आधारभुत सिद्धान्त मानकर पनपा है। उसने प्रचार के कोरे आडम्बर पर विश्वास नहीं किया। अपने मंतव्यों के प्रसार के निमित्त उसने कुटिलता तथा संघर्षवृत्ति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। जैन धर्म आत्म-विजेताओं का धर्म है, उसका प्रभाव आत्म-विश्वासियों पर पड़ता है। निरन्तर युग-युग से जैन धर्म पर श्रद्धा रखने वालों की

संख्या बढ़ती घटती रही है, किन्तु जैन धर्म की सरिता कभी सूखी नहीं, वह सदा से मानव-जाति को शान्ति का संदेश देती रही है। जनता पर और राजाओं पर जैन धर्म का बहुत बड़ा असर रहा है। भारत के बड़े-बड़े सम्राट् जैन धर्म के ध्वज की छाया में आत्मनिरीक्षण का पाठ पढ़ते रहे हैं। स्वयं भगवान् महावीर के समय में ही जैन धर्म मगध[1] का राज्य-धर्म था। तात्कालिक भारत के १६ प्रमुख राज्यों में जैन धर्म बहुत तेजस्वी रहा था। भ० महावीर के मामा की पाँच पुत्रियों ने ही पाँच राजाओं को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। यद्यपि महाराजा चेटक की सात पुत्रियाँ थीं, किन्तु इनमें से दो तो, ब्रह्मचारिणी ही रहीं थीं। क्रमशः इन पाँचों में से प्रभावती ने सिन्धु सौवीर के सम्राट् उदयन को, शिवा ने अवन्तीपति चण्डप्रद्योत को, चेलणा ने मगधाधिपति श्रेणिक को, मृगावती ने वत्सपति शतानीक को और पद्मावती ने अंगदेश के अधिपति दधिवाहन को जैन धर्म की ओर उन्मुख किया था। उस समय के राजाओं और राजकुमारों, राणियों और राजकुमारियों पर श्रमण महावीर का इतना प्रभाव था कि कितने ही राजपुत्रों और राजपुत्रियों ने साधु धर्म की दीक्षा तक ग्रहण की थी। वह जैन धर्म का स्वर्ण युग था, चारों ओर जैन धर्म की साधना का स्वर गूंज रहा था। राज्याश्रय जैनधर्म को पूर्णतया प्राप्त था किन्तु जैन धर्म आचार का धर्म है। उसे राज्याश्रय या व्यक्ति के आश्रय की तड़प नहीं है, उस समय यदि राज्यस्तर पर विधान के नाते जैन धर्म प्रचारोन्मुख बनाया जाता तो अत्यधिक विस्तृत हो जाता।

किन्तु जैन धर्म लोकैषणा और लोक संग्रहप्रवृत्ति को धार्मिकता के लिए अनिवार्य शर्त नहीं मानता, फिर भी जैनधर्म का प्रचार बढ़ा। सब से पहली क्षति जैन धर्म को चेटक और कोणिक के वैशालि युद्ध से हुई, उसमें जैन धर्म के मानने वाले १८ राजाओं का विनाश हो गया, चेटक की पराजय हुई, और कोणिक विजित होने पर भी जैनों का ग्लानि-पात्र बन गया और अंत में वह बौद्ध हो गया। फिर दो शताब्दी के बाद जैन धर्म का वर्चस्व गुप्तवंश के राजत्व काल में बढ़ा। महाराजा अशोक के पौत्र सम्प्रति ने तो गुरु गुणसुन्दर की आज्ञा लेकर जैन धर्म को विश्व विस्तृत करने के लिए बहुत प्रयत्न किया पर सम्प्रति के पश्चात् जैन धर्म के प्रसार की परम्परा चल नहीं सकी। यही कारण है कि उस समय जैन धर्म ईरान, अफगानिस्तान, और ग्रीस आदि समग्र देशों में फैला। यही नहीं, अपितु जैन धर्म ने ग्रीस के महान् चिन्तक पाइथेगोरस को "आर्हत" धर्म की दीक्षा दी। आज भी संसार में

---

[1] कंबोज, पाञ्चाल, कौशल, काशी, वत्स, श्रावस्ती, वैशाली, मगध, बंग, कुशस्थल अंग, धन कटक, आंध्र, कलिंग, अवंती, सिन्धुसौवीर।

पाइथेगोरियन लोगों की कमी नहीं। उनके सिद्धान्त, उनकी मान्यताएं जैन धर्म से अनुप्राणित हैं। दिगम्बर पट्टावलियों में तो पिहिताश्रव (पाइथेगोरस) नाम के संत का उल्लेख मिलता है।

भगवान् महावीर से २० वर्ष पूर्व पाइथेगोरस भारत में आये थे, और उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओं से जैन-दीक्षा ग्रहण कर ग्रीस में जैन धर्म का प्रचार किया था।

तत्व और सिद्धान्त की दृष्टि से जैन धर्म आज विश्व-व्यापी बनता जा रहा है क्योंकि विश्व में सामाजिक, सैद्धान्तिक, और राजनैतिक नेता-गण अहिंसा को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त के रूप से स्वीकार करते हैं। आज युद्ध के विरुद्ध शान्तिवादियों का मोर्चा भगवान् महावीर के उस कथन के अनुसार बन रहा है जिसमें उन्होंने कहा था कि —

"मा हणो, मा हणो"

(मत हिंसा करो, मत हिंसा करो) का उपदेश देने की भी प्रेरणा दी थी।

जैनधर्म एक विचारधारा है जो सामाजिक नियमों व व्यावहारिक सम्बन्धों को परिवर्तन करना धर्म के लिये अनावश्यक समझता है।

जैन धर्म न तो किसी की भाषा परिवर्तित करना चाहता है, न किसी की विवाह-पद्धति में हस्तक्षेप करना चाहता है, और न ही राज्य तथा भौतिक समृद्धि पर उसने कभी विश्वास किया है, वह तो मानवता के जागरण, विकारों के नियंत्रण और आत्मदर्शन का संदेश विश्व में फैलाना चाहता है।

ये सभी सम्राट्[1] स्वयं शुद्धाचरणी थे, इनके शासनकाल में निरपराध प्राणियों की हत्या बन्द रही है, लोग सुखी और समृद्धिशाली थे। सभी अपने-अपने नियत कार्यों को किया करते थे, एक को दूसरे के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं था, ऊँच-नीच के भेदों को पुण्य-पाप का फल समझते थे, इसी लिए पाप कर्म से हट कर, पुण्य कर्म करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। शासक कभी किसी के धर्म या सामाजिक नियम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे। प्रजा की रक्षा-व्यवस्था के लिए भूमि और चुङ्गी कर के अतिरिक्त कोई कर नहीं लेते थे, वह था "सुराज्य" जिसे लोग चाहते हैं। दक्षिण भारत में गंगवंशीय आदि जैन धर्मानुयायी राजाओं ने सैकड़ों वर्ष तक निष्कंटक राज्य किया है। चामुण्डराय आदि वीरों ने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। आज भी मुडबिद्री में राजवंश के उत्तराधिकारी विद्यमान हैं।

---

[1] प्रसिद्ध जैन सम्राटों की तालिका पृ० २३० पर देखिए।

भारतवर्ष के ऐतिहासिक क्षत्रिय जैन सम्राट् तथा भूपति

क्रम	नाम सम्राट	वंश	शासन-काल ईस्वी पूर्व	कुल वर्ष	राजधानी	विशेष विवरण
१.	बिम्बसार	शिशुनाग	५४३—४९१	५२	राजग्रह	उपनाम श्रेणिक, भ० महावीर के मौसा।
२.	अजातशत्रु	”	४९१—४५९	३२	पाटलीपुत्र	उपनाम, कोणिक, बुद्ध के समकालीन।
३.	उदयन	”	४५९–४१३	४६	”	सिकन्दर भारत में आया
४.	महापद्म	”	३२३—		”	
५.	चन्द्रगुप्त	मौर्य	३२२—२९८	२४	”	सिल्यूकस भारत आया।
६.	बिन्दुसार	मौर्य	२९८—२७३	२५	”	
७.	अशोक	”	२७३—२३२	४१	”	भारत का महान् सम्राट् राज्य के केवल चार वर्ष जैन रहा, फिर बौद्ध बन गया।
८.	सम्प्रति	”			”	अशोक का पौत्र।
९.	खारवेल	चेदी	१७७—१५२	२५	कलिंग	कलिंग विजय किया।
१०.	कनिष्क	”	सन् ७८ ईस्वी		पेशावर	बौद्ध-मत में दो सम्प्रदाय हुए।
११.	विक्रमादित्य	परमार	३७५		उज्जैन	चीनी यात्री फाहियान आया।
१२.	हर्ष	परमार	६०६—६४७	४१	कन्नौज	चीनी यात्री ह्वेनसांग आया।
१३.	अमोघवर्ष	राष्ट्रकूट	७५०		मलखेड़	
१४.	सहिल देवराय	तोमर	१०००—१०५०	५०	श्रावस्ती	सैयद सालार मसऊद को युद्ध में मारा।
१५.	कुमारपाल	चालुक्य	११४२—११७३	३१	अणहिलपुर	
१६.	हेमू (हेमराज)	पडिहार	११५६—		दिल्ली	अकबर से पहली टक्कर लेनेवाला

"जत्ता ते भंते ! अवणिज्जं अव्वावाहं फासुयविहारं ?"

"सोमिला ! जत्ता विमे, जवणिज्जं पि मे अव्वावाहं पि मे फासुयविहारं पि मे ।"

—भगवती, श० १८, उ० १०।

"हे भंते ! आपके धर्म में यात्रा, यापनीय अव्यावाध और विहार है क्या ?"

"हे सोमिल, है ! तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों में हमारी यत्ना की प्रवृत्ति ही हमारी यात्रा है ।"

इन्द्रिय और कषायों को जीतना ही यापनीय है। वात, पित्त, कफ और सन्निपात रोगों की उपशान्ति और अशुभ कर्मों का उदय में नहीं आना ही अव्यावाध है।

उद्यान, धर्मशाला, स्त्री-पशु रहित शुद्ध आसन ग्रहण करना ही हमारा प्रासुक विहार है ।

"हे सोमिल ! संयम की प्राप्ति द्रव्य, नय और निक्षेप के ज्ञान-विज्ञान के बिना नहीं हो सकती ।"

यही धर्म की विशेषता है ।

जैन-धर्म की विशेषताएँ

जैन धर्म की विशेषताएँ

जैन धर्म की वैज्ञानिकता—पिछले प्रकरणों में जैन धर्म की मान्यताएँ संक्षेप में बतलाई जा चुकी हैं। ध्यानपूर्वक उन्हें पढ़ने से जैन धर्म में, अन्य धर्मों की अपेक्षा जो विशेषताएँ हैं, उनका आभास मिल सकता है। किन्तु उनकी ओर विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करने के लिए उनका पृथक् उल्लेख कर देना ही उचित होगा।

तत्त्व का ज्ञान तपस्या एवं साधना पर निर्भर है। सत्य की उपलब्धि इतनी सरल नहीं है कि अनायास ही वह हाथ लग जाय। जो निष्ठावान् साधक जितनी अधिक तपस्या, और साधना करता है, उसे उतने ही गुह्य-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की बात छोड़ दें और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के ही जीवन पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट विदित होगा कि उनकी तपस्या और साधना अनुपम और असाधारण थी। भ० महावीर साढ़े बारह वर्षों तक निरन्तर कठोर तपश्चर्या करते रहे। उस असाधारण तपश्चर्या का फल भी उन्हें असाधारण ही मिला। वे तत्वबोध की उस चरम सीमा का स्पर्श करने में सफल हो सके, जिसे साधारण साधक प्राप्त नहीं कर पाते। वास्तव में जैनधर्म के सिद्धान्तों में पाई जाने वाली खूबियाँ ही उनका रहस्य है। जैन मान्यताएँ यदि वास्तविकता की

सुदृढ़ नींव पर अवस्थित और विज्ञानसम्मत हैं तो उनका रहस्य भगवान् महावीर का तपोजन्य परिपूर्ण तत्त्वज्ञान ही है।

सृष्टि रचना—उदाहरण के लिए सृष्टि रचना के ही प्रश्न को ले लीजिये, जो दार्शनिक जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधारभूत हैं। विश्व में कोई दर्शन या मत न होगा, जिसने इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास न किया हो। क्या प्राचीन, और क्या नवीन, सभी दर्शन इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। मगर वैज्ञानिक विकास के इस युग में उनमें अधिकांश उत्तर कल्पनामात्र प्रतीत होते हैं। इस संबंध में महात्मा बुद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने बिना किसी संकोच या झिझक के स्पष्ट कह दिया कि लोक का प्रश्न अव्याकृत है—अनिर्णीत है। इसका आशय यही लिया जा सकता है कि लोक-व्यवस्था के संबध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इस स्पष्टोक्ति के लिए गौतम बुद्ध धन्यवाद के पात्र हैं, मगर लोक के विषय में हमारे अन्तःकरण में जिज्ञासा सहज रूप से उदित होती है, उसकी तृप्ति इस उत्तर से नहीं हो पाती। और जब हम जिज्ञासा तृप्ति के लिए इस विषय के विभिन्न दर्शनों के उत्तर की ओर ध्यान देते हैं, तब भी निराशा का सामना करना पड़ता है।

सृष्टि रचना के विषय में अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रथम यह कि सृष्टि का विधिवत् निर्माण हुआ है या नहीं? अगर निर्माण हुआ है, तो इसका निर्माता कौन है? यदि निर्माण नहीं हुआ तो सृष्टि कहाँ से आई? सृष्टि-निर्माण से पहले क्या स्थिति थी?

इन प्रश्नों पर दार्शनिक कभी सहमत नहीं हो सके। एक कहता है—सृष्टि देव[1] के द्वारा उत्पन्न की गई है। तो दूसरा कहता है—"ब्रह्म या ब्रह्मा ने इसकी रचना की है।" किसी का मत है कि ईश्वर इसका निर्माता है, और किसी के मतानुसार प्रकृति से सृष्टि बनी है। कोई स्वयंभू को सृष्टि का कर्त्ता कहते हैं। कोई अंडे से उसकी उत्पत्ति बतलाते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार यह चराचर विश्व, अडे से उत्पन्न हुआ है। जब संसार में कोई भी वस्तु नहीं थी तब ब्रह्मा ने पानी में एक अंडा उत्पन्न किया। बढ़ते-बढ़ते वह बीच में से फट गया। उसके दो भागों में से एक से ऊर्ध्व-लोक की और दूसरे से अधोलोक की उत्पत्ति हुई।

---

[1] सूत्र कृतांग प्र० श्रु०, अ० १, उ० ३।

कोई स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, कोई काल से, कोई नियति से और कोई यदृच्छा से।

सृष्टि से पहले कौन-सा तत्त्व था, इस विषय में भी विभिन्न दर्शनों में मतैक्य नहीं है। किसी के मन्तव्य के अनुसार सृष्टि से पहले जगत् असत् था—"असद्वा इदमग्र आसीत्।" दूसरे कहते हैं—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे सौम्य! जगत् सृष्टि से पहले सत् था। किसी का कहना है—"आकाशः परायणम्" अर्थात् सृष्टि से पूर्व आकाश-तत्त्व विद्यमान था। कोई इस मन्तव्य के विरुद्ध कहते हैं:—

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्।" "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्"

सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था, सभी कुछ मृत्यु से व्याप्त था, अर्थात् प्रलय के समय नष्ट हो चुका था।

अभिप्राय यह है कि जैसे सृष्टि-रचना के संबंध में अनेक मान्यताएँ हैं, उसी प्रकार सृष्टिपूर्व की स्थिति के संबंध में भी परस्पर विरुद्ध मन्तव्य हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

सृष्टिप्रक्रिया संबंधी इन परस्पर विरुद्ध मन्तव्यों की आलोचना जैनदर्शन में विस्तारपूर्वक की गयी है। उसे यहाँ प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं। तथापि यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि इन कल्पनाओं के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् सत् मान लिया जाय तो उसके नये सिरे से निर्माण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो सत् है वह तो है ही। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् एकान्त असत् था और असत् से जगत् की उत्पत्ति मानी जाये तो शून्य से वस्तु का प्रादुर्भाव स्वीकार करना पड़ेगा, जो तर्क और बुद्धि से असंगत है। इसी प्रकार सृष्टिनिर्माण की प्रक्रिया भी तर्कसंगत नहीं है।

इस विषय में जैन धर्म की मान्यता ध्यान देने योग्य है। जैन धर्म के अनुसार जड़ और चेतन का समूह यह लोक सामान्य रूप से नित्य और विशेष रूप से अनित्य है। जड़ और चेतन में अनेक कारणों से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। एक जड़ पदार्थ जब दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मिलता है तब दोनों में रूपान्तर होता है, इसी प्रकार जड़ के सम्पर्क से चेतन में भी रूपान्तर होता रहता है। रूपान्तर की इस अविराम परम्परा में भी हम मूल वस्तु की सत्ता का अनुगम स्पष्ट देखते हैं। इस अनुगम की अपेक्षा से जड़ और चेतना अनादिकालीन हैं, और अनन्त

काल तक स्थिर रहने वाले हैं। सत् का शून्य रूप में परिणमन नहीं हो सकता, और शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव या उत्पाद नहीं हो सकता है।

पर्याय की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है। परन्तु उसके लिए देव, ब्रह्म, ईश्वर या स्वयंभू की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतएव न तो जगत् का कभी सर्जन होता है, न प्रलय ही होता है। अतएव लोक शाश्वत है। प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ माने जाने वाले श्री जे० बी० एस० हाल्डेन का मत है कि —"मेरे विचार में जगत् की कोई आदि नहीं है। सृष्टिविषयक यह सिद्धान्त अकाट्य है, और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नहीं कर सकता।"

पृथ्वी का आधार—प्राचीन काल के दार्शनिकों के सामने एक जटिल समस्या और खड़ी रही है। वह है इस भूतल के टिकाव के संबंध में, यह पृथ्वी किस आधार पर टिकी है। इस प्रश्न का उत्तर अनेक मनीषियों ने अनेक प्रकार से दिया है। किसी ने कहा—"यह शेषनाग के फण पर टिकी है।" कोई कहते हैं, "कछुए की पीठ पर ठहरी हुई है", तो किसी के मत के अनुसार "वराह की दाढ़ पर।" इन सब कल्पनाओं के लिए आज कोई स्थान नहीं रह गया है।

जैनागमों की मान्यता इस संबंध में भी वैज्ञानिक है। इस पृथ्वी के नीचे घनोदधि (जमा हुआ पानी) है, उसके नीचे तनु-वात है और तनुवायु के नीचे आकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं है।

लोकस्थिति के इस स्वरूप को समझाने के लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु भर कर, फुला दे और फिर मशक का मुँह मज़बूती के साथ बाँध दे। फिर मशक के मध्य भाग को भी एक रस्सी से कस कर बाँध दे। इस प्रकार करने से मशक की पवन दो भागों में विभक्त हो जायेगी और मशक डुगडुगी जैसी दिखाई देने लगेगी। तत्पश्चात् मशक का मुँह खोल कर ऊपरी भाग का पवन निकाल दिया जाय और उसके स्थान पर पानी भर कर पुनः मशक का मुँह कस दिया जाय, फिर बीच का बन्धन खोल दिया जाय, ऐसा करने पर मशक के ऊपरी भाग में भरा हुआ जल ऊपर ही टिका रहेगा, वायु के आधार पर ठहरा रहेगा, नीचे नहीं जाएगा, क्योंकि मशक के ऊपरी भाग में भरे पानी के लिए वायु आधार रूप है। इसी प्रकार वायु के आधार पर पृथ्वी आदि ठहरे हुए हैं। भगवती सूत्र श० १, उ० ६।

स्थावरजीव——जैन धर्म वनस्पति, पृथ्वी, जल, वायु और तेज में चैतन्य शक्ति स्वीकार करके, उन्हें स्थावर जीव मानता है। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा वनस्पति की सजीवता प्रमाणित कर दी है। उसके पश्चात् विज्ञान, पृथ्वी की जीवत्वशक्ति को स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहा है। विख्यात भूगर्भ वैज्ञानिक श्री फ्रांसिस ने अपनी दशवर्षीय भूगर्भयात्रा के संस्मरण लिखते हुए Ten years under earth नामक पुस्तक में लिखा है कि——

"मैंने अपनी इन विविध यात्राओं के दौरान में पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे हैं, जो आधुनिक पदार्थविज्ञान से विरोधी थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमों द्वारा समझाये नहीं जा सकते।"

इसके पश्चात् वे अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं——

"तो प्राचीन विद्वानों ने पृथ्वी में जीवत्वशक्ति की जो कल्पना की थी, क्या वह सत्य है?"

श्री फ्रांसिस भूगर्भ संबंधी अन्वेषण कर रहे हैं। एक दिन वैज्ञानिक जगत् पृथ्वी की सजीवता स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति विद्यमान है, परन्तु जब तक वह कर्म द्वारा आच्छादित है, तब तक अपने असली स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाती। जब कोई सबल आत्मा आवरणों को निःशेष कर देती है, तो भूत और भविष्य वर्तमान की भाँति साफ दिखाई देने लगते हैं।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० जे० बी० राइन ने अन्वेषण करके अनेक आश्चर्यजनक तथ्य घोषित किये हैं। उन तथ्यों को भौतिकवाद के पक्षपाती वैज्ञानिक स्वीकार करने में हिचक रहे हैं, मगर उन्हें अमान्य भी नहीं कर सकते हैं। एक दिन वे तथ्य अन्तिम रूप से स्वीकार किये जायेंगे, और उस दिन विज्ञान आत्मा तथा सम्पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) की जैन मान्यता पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा।

लोकोत्तर ज्ञान——ध्यान और योग जैन-साधना के प्रधान अंग हैं। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ध्यान और योग के द्वारा विस्मयजनक आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति की जा सकती है। आधुनिक विज्ञान भी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हुआ है। इस संबंध में प्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रेवाल्टर की The leaving brain नामक पुस्तक पठनीय है। वे कहते हैं——

अनेकान्त दृष्टि

दर्शन शास्त्र का उद्देश्य शुद्ध बोध की उपलब्धि और उसके द्वारा समस्त बंधनों से विमुक्ति पाना है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति के विना शाश्वत शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। वोध मुक्ति का साधन है, मगर यह भी स्मरणीय है कि वह दुधारी खड्ग है। ज्ञान के साथ अगर नम्रता है, उदारता है, निष्पक्षता है, सात्विक जिज्ञासा है, सहिष्णुता है, तो ही ज्ञान, आत्म-विकास का साधन बनता है। इसके विपरीत ज्ञान के साथ यदि उद्दंडता, संकीर्णता, पक्षपात एवं असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है तो वह अधःपतन का कारण वन जाता है। मानवीय दौर्बल्य से उत्पन्न यह अवांछनीय वृत्तियाँ अमृत को भी विष बना देती हैं।"

जैनधर्म ने उस कला का आविष्कार किया है, जो ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकती हैं। वह कला ज्ञान को सत्य, शिव, और सुन्दर वनाती है, उस कला को जैनदर्शन ने अनेकान्तदृष्टि का नाम दिया है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है। यह दृष्टि परस्पर विरोधी वादों का साधार समन्वय करने वाली, परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता, नम्रता, सहिष्णुता और सात्त्विकता उत्पन्न करने वाली है। दार्शनिक जगत् के लिए यह एक महान् वरदान है।

अहिंसा

मानव जाति को मांसभक्षण की अवांछनीयता एवं अनिष्टकरता समझा कर मांसाहार से विमुख करने का सूत्रपात जैन धर्म ने ही किया है। समस्त धर्मों का आधारभूत और प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा ही है। यह मन्तव्य बनाने का अवकाश जैन धर्म ने ही दिया है। जैनधर्म ने अहिंसा को इतनी दृढ़ता और सबलता के साथ अपनाया, और जैनाचार्यों ने अहिंसा का स्वरूप इतनी प्रखरता के साथ निरूपण किया, कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मों का अंग वन गई। जैन धर्मोपदेशकों की यदि सबसे बड़ी एक सफलता मानी जाय, तो वह अहिंसा की साधना ही है। उनकी वदौलत ही आज अहिंसा विश्वमान्य सिद्धान्त है। देश-काल के अनुसार उसकी विभिन्न शाखाएँ प्रस्फुटित हो रही हैं। जैन धर्म की, अहिंसा के रूप में एक महान् देन है, जिसे विश्व के मनीषी कभी भूल नहीं सकते।

यों तो भगवान् ऋषभदेव के युग से ही अहिंसा तत्त्व, प्रकाश में आ चुका था, मगर जान पड़ता है कि मध्यकाल में पुनः हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी।

तब बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए जोरदार प्रयास किया। उन्होंने विवाह के लिए श्वसुरगृह के द्वार तक पहुँच कर भी पशु-पक्षियों की हिंसा के विरोध में विवाह करना अस्वीकार करके तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में भारी सनसनी पैदा कर दी। वासुदेव कृष्ण के भाई अरिष्टनेमि का वह साहसपूर्ण उत्सर्ग, सार्थक हुआ और समाज में पशुओं और पक्षियों के प्रति व्यापक सहानुभूति जागी। उनके पश्चात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सर्प जैसे विषैले प्राणियों पर अपनी करुणा की वर्षा करके, लोगों का ध्यान दया की ओर आकर्षित किया। फिर भी धर्म के नाम पर जो हिंसा प्रचलित थी, उसे निश्शेष करने के लिए चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने प्रभावशाली उपदेश दिया। आज यद्यपि हिंसा प्रचलित है, फिर भी विचारवान् लोग उसे धर्म या पुण्य का कार्य नहीं समझते, बल्कि पाप मानते हैं। इस दृष्टिपरिवर्तन के लिए जैन-परम्परा को बहुत उद्योग करना पड़ा।

अवतारवाद

जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर विचार करते समय एक बात अनायास ही ध्यान में आ जाती है। वह है उसके अवतारवाद की मान्यता।

आत्मा की चरम और विशुद्ध स्थिति क्या है, यह दर्शनशास्त्र के चिन्तन का एक प्रधान प्रश्न रहा है। विभिन्न दर्शनों ने इस पर विचार किया है और अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बौद्धदर्शन के अनुसार चित्त की परम्परा का अवरुद्ध हो जाना, आत्मा की चरम स्थिति है। इस मान्यता के अनुसार दीपक के निर्वाण की भाँति आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है।

कणाद मुनि का वैशेषिकदर्शन आत्मा की अन्तिम स्थिति मुक्ति स्वीकार करता है, पर उसकी मुक्ति का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे समझ लेने पर अन्तः-करण में मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत नहीं होती। कणाद ऋषि के मन्तव्य के अनुसार मुक्त आत्मा ज्ञान और सुख से सर्वथा वंचित हो जाता है। ज्ञान और सुख ही आत्मा के असाधारण गुण हैं और जब इनका ही समूल उच्छेद हो गया तो फिर क्या आकर्षण रह गया मुक्ति में?

संसार में जितने अनादिमुक्त एकेश्वरवादी सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा, ईश्वरत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर एक अद्वितीय है। जीव जाति से वह पृथक् है। संसार में अधर्म की वृत्ति

और धर्म का ह्रास होने पर उसका संसार में अवतरण होता है। उस समय वह परमात्मा से आत्मा का रूप ग्रहण करता है। जैन धर्म अवतारवाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है। और परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा के पुनः भवावतरण का विरोध करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उच्च से उच्च जो आदर्श संभव है, उसकी उपलब्धि का आश्वासन और पथप्रदर्शन जैनधर्म से मिलता है। वह आत्मा के अनन्त विकास की संभावनाओं को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। जैन धर्म का यह प्रत्येक नर को नारायण, और भक्त को भगवान्, बनने का अधिकार देना ही उसकी मौलिक मान्यता है।

गुणपूजा

जैनधर्म सदैव गुणपूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल, वण अथवा वाह्य वेष के कारण वह किसी व्यक्ति की महत्ता अंगीकार नहीं करता। भारतवर्ष में प्राचीन काल से एक ऐसा वर्ग चला आता है जो वर्णव्यवस्था के नाम पर, अन्य वर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए, तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण वनाये रखने के लिए एक अखण्ड मानव जाति को अनेक खंडों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार पर, समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को अधिक-से-अधिक अवकाश हो परन्तु जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है।

"एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक वहुसंख्यक भाग का अपमान होता है। प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचार, सदाचार से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान, ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद वन जाता है। यही ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकी जनों को सह्य नहीं हो सकती।" (निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य, पृष्ठ २८९)

अतएव जैन धर्म की मान्यता है कि गुणों के कारण, कोई व्यक्ति आदर-

णीय होना चाहिए और अवगुणों के कारण अनादरणीय एवं अप्रतिष्ठित होना चाहिए। इस मान्यता के पोषक जैनागमों के कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

मस्तक मुंड़ा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता, अरण्यवास करने से ही कोई मुनि नहीं होता और कुश-चीर के परिधानमात्र से कोई तपस्वी का पद नहीं पा सकता। (उत्तराध्ययन अ० २५, सूत्रकृतांग १ श्रु०, अ० १३, गा० ९, १०, ११)।

समभाव के कारण श्रमण, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान की उपासना करने के कारण मुनि, और तपश्चर्या में निरत रहने वाला तापस कहा जा सकता है।

कर्म (आजीविका) से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है, और कर्म से शूद्र होता है।

मनुष्य-मनुष्य में जाति के आधार पर कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता मगर तपस्या (सदाचार) के कारण अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है।

(उत्तराध्ययन)

इन उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि जैन धर्म ने जन्मगत वर्णव्यवस्था एवं जाति-पाति की क्षुद्र भावनाओं को प्रश्रय न देकर गुणों को ही महत्त्व प्रदान किया है। इसी कारण जैन संघ ने मनुष्य-मात्र का वर्ण एवं जाति का विचार न करते हुए समान-भाव से स्वागत किया है। वह आत्मा और परमात्मा के बीच में भी कोई अलंघ्य दीवार स्वीकार नहीं करता तो आत्मा-आत्मा और मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसे स्वीकार कर सकता है।

अपरिग्रहवाद

संसार का कोई भी धर्म परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है। किन्तु सब धर्म एक स्वर से इसे हेय घोषित करते हैं। ईसाई धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक बाइबिल का यह उल्लेख प्रायः सभी जानते हैं कि —“सूई की नोंक में से ऊँट कदाचित् निकल जाय, परन्तु धनवान् स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता।” परिग्रह की यह कड़ी-से-कड़ी आलोचना है। इधर भारतीय धर्म भी परिग्रह को समस्त पापों का मूल और आत्मिक पतन का कारण कहते हैं। किन्तु जैन धर्म में अपरिग्रह को व्यवहार्य रूप प्रदान करने की एक बहुत सुन्दर प्रणाली निर्दिष्ट की गई है।

जैन संघ मुख्यतया दो भागों में विभक्त है—त्यागी और गृहस्थ। त्यागी वर्ग के लिए पूर्ण अपरिग्रही, अकिंचन रहने का विधान है। जैन त्यागी संयम-साधना के लिए अनिवार्य कतिपय उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने अधिकार में नहीं रखता। यहाँ तक कि अगले दिन के लिए भोजन भी अपने पास नहीं रख सकता। उसके लिए अपरिग्रह महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है।

गृहस्थवर्ग अपरिग्रही रहकर संसार-व्यवहार नहीं चला सकता और इस कारण उसके लिए पूर्ण परिग्रहत्याग का विधान नहीं किया गया है, उसे सर्वथा अनियन्त्रित भी नहीं छोड़ा गया है। गृहस्थ को श्रावक की कोटि में आने के लिए अपनी तृष्णा, ममता एवं लोभ-वृत्ति को सीमित करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिए। परिग्रह-परिमाण श्रावक के पाँच मूल व्रतों में अन्यतम है। इस व्रत का समीचीन रूप से पालन करने के लिए श्रावक को दो व्रत और अंगीकार करने पड़ते हैं, जिसका भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदंड-त्याग के नाम से गृहस्थधर्म के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। परिमित परिग्रह का व्रत तभी ठीक तरह से व्यवहार में आ सकता है, जब मनुष्य अपने भोग और उपयोग के योग्य पदार्थों की एक सीमा बना ले और साथ ही निरर्थक पदार्थों से अपना संबंध विच्छेद कर ले। इस प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए इन सहायक व्रतों की बड़ी आवश्यकता है।

अर्थतृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन न बन जाय, जीवन-चक्र द्रव्य के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे, और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अंधकार में विलीन न हो जाय, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन में आना ही चाहिए। यदि अपरिग्रह भाव जीवन में आ जाय, और सामूहिक रूप में आ जाय तो अर्थवैषम्यजनित सामाजिक समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। उन्हें हल करने के लिए समाजवाद या साम्यवाद या अन्य किसी नवीन वाद की आवश्यकता ही नहीं रहती।

जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है, अतएव समाजशास्त्रियों के लिए अध्ययन करने योग्य है। इससे व्यक्ति का जीवन भी उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही समाज की समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छई ॥

—द०, ९,२, २१।

नच्चा नमई मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगइ जहा ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १, गा० ४५।

हे साधक ! सभ्यता का मूल विनय है, अविनय नहीं। अत: अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को सम्पत्ति ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

हे साधक ! विनय के स्वरूप को जानने वाला सदा नम्र रहता है, और वह इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है। जिस प्रकार पृथ्वी समस्त वनस्पति और प्राणियों के लिए आधार रूप है, उसी प्रकार विनीत पुरुष भी समस्त गुणों का आधार रूप होता है।

जैन-शिष्टाचार

जैन-शिष्टाचार

जैन धर्म भारत का एक प्राचीन धर्म है, जैन धर्म के २४ तीर्थंकर इसी भारत-भूमि में उत्पन्न हुए हैं। जैन-समाज भारतीय समाज के साथ सदा अभिन्न रहा है, आर्यत्व के नाते जैन और जैन तीर्थंकर आर्यवंश में ही पैदा हुए हैं। जैन धर्म प्रारम्भ से ही कोई जातिगत धर्म नहीं बना, वह सदा से एक चिन्तनात्मक मुक्ति मार्ग के रूप में ही स्थित रहा है। सांसारिक; राजनीतिक तथा शासनिक अहंभावना अथवा अधिकार-एषणा का उसने कभी पोषण नहीं किया। भारतीय सभ्यता और आर्यसंस्कृति को जैनों की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। पर वह आर्यत्व के अंग-भूत होने के नाते पराई नहीं, और न ही आक्रामक रूप से बलात् थोपी गई है, अपितु जैन-धर्म के नाते निर्ग्रन्थ पथ का अनुयायी है, तथा जाति, वंश, सभ्यता संस्कृति और रक्त के सम्बन्ध से आर्य है। जैन और जैनेतरों में परम्परा से विवाह सम्बन्ध होते आये हैं, क्योंकि जैन धर्म सामाजिक सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करता, अतः जैन शिष्टाचार और सभ्यता में व भारतीय सभ्यता में कोई मौलिक अन्तर नहीं है' फिर भी जैन धर्म के विचारों, सिद्धान्तों का जो अनुयायियों पर प्रभाव पड़ा है, उससे कतिपय विशेषताओं को जन्म मिला है। इसका कारण है जैन धर्म की विनय-शीलता। जैन धर्म में विनय और समता पर अत्यधिक बल दिया है, प्रायश्चित्त, विनय, तथा वैयावृत्य (सेवाधर्म)को तप का अन्तर-स्वरूप बताया है। प्रायश्चित्त

से अहंभाव का नाश होता है, और विनय से नम्रता तथा विवेक को बल मिलता है। जैन शिष्टाचार का अर्थ है विनय।[1]

ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के प्रति श्रद्धा रखना और इन गुणों के धारक के प्रति आदर रखना जैनागम में बहुत बड़ा तप बताया है।[2]

मन, वचन, तथा काया को अप्रशस्त, पापकारी तथा घृणाकारक कार्य से हटाकर प्रशस्त, पुण्य-कारक तथा उपयोगपूर्वक उठने-बैठने की सभ्यता की ओर उन्मुख होना महान् तप बताया गया है।[3]

जैनागम में लोकव्यवहार को ठीक ढंग से साधने के लिए भी लोकोपचार विनय[4] का उल्लेख किया है।

अध्यापक-गुरु की आज्ञापालन, आदर के साथ गुरु से व्यवहार करना, ज्ञानदान निमित्त नम्रतापूर्वक दान देना, दुःखी जीवों के प्रति कोमल भाव रखना, देशकाल की विज्ञता और सब से प्रेममय आत्मीयपन के अनुकूल रूप से स्नेहभरा व्यवहार करना भी जैनधर्म के अनुसार धर्म की प्रधानतम सेवा है।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, अरिहंत, सिद्ध, देव, धर्म, तथा गुरु के प्रति अशातना-अनादरभाव नहीं रखना ही जैन साधु और श्रावकों का परम कर्त्तव्य है।

जैनशास्त्रों में अशातना का बहुत विस्तृत वर्णन है, गुरु की अशातना ३२ प्रकार की बताई जाती है। गुरु के आगे खड़ा होना, गुरु के आसन पर बैठ जाना, गुरु के आगे चलना, तुकार का प्रयोग करना, आदि अनादर भावों का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति भी जैनों के शिष्टाचार का ढंग नियत है जैसे कि :—

१. **देव और गुरु के प्रति :**—जैन श्रमणोपासक जब तीर्थंकर भगवान् को उपदेश सभा में अथवा साधु के निवास स्थान पर जाता है, तो उसे पाँच बातें करनी चाहिएँ, जो जैन परिभाषा में पाँच अभिगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे ये हैं—

---

[1] भगवती सूत्र, श० २५।

[2] ,, ,, ,,

[3] ,, ,, ,,

[4] भगवती सूत्र श० २५।

१. फूलमाला सचित्त आदि वस्तुओं को हटा देना आवश्यक है।

२. अचित्त वस्तुओं का त्याग आवश्यक नहीं।

३. छत्र-चंवर आदि ऐश्वर्य के चिह्न तथा जूता, छतरी आदि पदार्थ न ले जाना।

४. तीर्थंकर या साधु पर दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना।

५. मन की चंचलता त्याग कर एकाग्र होना। (भगवती सूत्र)

२. वन्दनापाठ—तीर्थंकर या साधु के समक्ष पहुँच कर निम्नलिखित पाठ पढ़ कर उन्हें वन्दना की जाती है—

> "तिक्खुत्तो आयाहिणं, पयाहिणं करेमि, वंदामि नमंसामि, सक्कारेमि, संमाणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि।"
>
> —आवश्यक सूत्र, सामायिक पाठ।

अर्थात्—भगवन्! मैं तीन वार दक्षिण से आरंभ करके प्रदक्षिणा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सन्मान करता हूँ। आप कल्याण और मंगल के रूप हैं। देवता स्वरूप हैं, चैत्य-ज्ञान स्वरूप हैं। मैं आपकी पुनः-पुनः उपासना करता हूँ। मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ।

३. श्रमणों का पारस्परिक शिष्टाचार—जैन संघ में वन्दनीयता का आधार पर्यायज्येष्ठता है। अर्थात् प्रत्येक मुनि अपने से पूर्व दीक्षित मुनि को नमस्कार करता है। इसमें उम्र आदि किसी अन्य बात का विचार नहीं किया जाता। पुत्र यदि पहले दीक्षित हो चुका है और पिता पश्चात् दीक्षित हुआ है तो पिता अपने पुत्र को नमस्कार करेगा। सूत्रकृतांग अ० २, उ० २ सूत्र में बतलाया है कि चक्रवर्ती राजा भी यदि बाद में मुनि दीक्षा ग्रहण करे तो उसका कर्त्तव्य है कि वह पूर्वदीक्षित अपने दास के दास को भी लज्जा और संकोच न करता हुआ वन्दना करे।

मुनि बन जाने पर मनुष्य का गृहस्थ जीवन समाप्त हो जाता है और एक नवीन ही जीवन का सूत्रपात होता है।

४. श्रावकों का पारस्परिक शिष्टाचार—शास्त्रीय उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में श्राविकाएँ और श्रावक भी अपने से बड़े श्रावक को वन्दना किया करते थे। —भगवतीसूत्र, १२शतक, शंख-पोक्खली संवाद।

५. पति-पत्नी सम्बन्धी—दम्पति को पृथक् शय्या पर ही नहीं, अपितु पृथक्-पृथक् कक्षों में शयन करना चाहिए। पत्नी जब पति के समीप आती है तो पति आदरपूर्ण मधुर शब्दों में उसका स्वागत करता है। बैठने को भद्रासन प्रदान करता है। क्योंकि जैनागमों में पत्नी पति की "धम्मसहाया", अर्थात् धर्मसहायिका मानी गई है।—उपासक दशांग।

६. स्वामी-सेवक संबंधी—जैन शास्त्रों में सेवक का "कोडुम्बियपुरिस", अर्थात् कौटुम्बिक पुरुष परिवार का ही सदस्य के रूप में उलेल्ख किया गया है। सम्राट भी अपने सेवक को "देवाणुप्पिया" कह कर संबोधन करते हैं। देवाणुप्पिया का अर्थ है—"देवों के प्यारे।" कितना औदार्य, कितना माधुर्य है और कितना स्नेह भरा है, इन शब्दों में।

"देवाणुप्पिया" शब्द संबोधन का सामान्य शब्द है। स्वामी सेवक को, सेवक स्वामी को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और प्रत्येक प्रत्येक को प्रायः इसी शब्द से संबोधित करता है।

जैन पर्व

पर्व, धर्म और समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यष्टि और समष्टि के जीवन क्रम में जिस विश्वास, धारणा तथा उत्साह की आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व और उत्सव दोनों ही मानव की मूलभूत भूक संस्कार निर्माण, सभ्यता शिक्षण, और संस्कृति अभिव्यंजन का कार्य पूरा करते हैं, किसी भी धर्म अथवा समाज की आधारभूत पृष्ठभूमि को समझने के लिए पर्वों और उत्सवों को जान लेना अत्यावश्यक है। प्रत्येक धर्म के शास्त्र सिद्धान्त, और प्रतीक की तरह अपने मौलिक रूप से पर्व भी होते हैं। दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक विभिन्नता ही पर्वों की विभिन्नता का कारण है। जैनधर्म के भी कुछ अपने पर्व हैं। एक जैन भी वर्ष के किसी-न-किसी दिन को पर्व का रूप देकर अपने धार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। पर्वों का सीधा सम्बन्ध समाज-अनुयायी वर्ग से है, किन्तु पर्वों का मूल रूप धर्म के आन्तर विचारों से उत्प्रेरित होता है। जैन पर्व जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैन पर्व मानव से खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-उपभोग अथवा हर्ष व विषाद की माँग नहीं करते, अपितु वे तो मनुष्य को तप, त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य प्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा विश्व मैत्री की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। जैन पर्वों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे कि,

संवत्सरी-पर्यूषण पर्व, दशलक्षणोपर्व, आयम्बिलअष्टान्हिका, श्रुतपंचमी, आदि तो धार्मिक पर्व हैं। महावीर जयंती, वीर शासन जयन्ती, दीपावली, सलूनो (रक्षा-बंधन) आदि सामाजिक पर्व हैं।

संवत्सरी—श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सम्वत्सरी पर्यूषणपर्व को पर्वाधिराज कहा जाता है। जैन शास्त्रों में पर्यूषण के दिनों में से आठवें दिन संवत्सरी को धर्म का सर्वोच्च पवित्र दिन माना गया है। श्रमण सुधर्मा कहते हैं कि हे जम्बू![1] इस पर्व को श्रमण भगवान् महावीर ने आषाढ़ पूर्णिमा से १ मास २० दिन के बाद मनाया था। चातुर्मास में एक मास और २०वें दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ला ५ को संवत्सरी पर्व आता है। आत्म शुद्धि के इस महान पर्व को जैसे भगवान् मनाते हैं उसी प्रकार गौतम स्वामी, उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा श्रीसंघ मनाता है। सम्वत्सरी की रात का किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

समवायांग[2] सूत्र में संवत्सरी का समय निश्चित करते हुए यह भी बताया है कि चातुर्मास के ५० दिन बाद और ७० दिन शेष रहते संवत्सरी पर्व की आराधना करनी चाहिए।

संवत्सरी के आठ दिवसों को पर्यूषण कहते हैं। सम्वत्सरी और पर्यूषण दोनों में केवल इतना ही अन्तर है, कि संवत्सरी आध्यात्मिक साधना-क्रम में वर्ष का अन्तिम और सर्वप्रथम दिन का बोधक है, और पर्यूषण शब्द तप और वैराग्य साधना का उद्बोधक है। अतः संवसत्सरी का अर्थ है, वर्ष का आरंभ और पर्यूषण का अर्थ है कषाय की शान्ति। आत्मनिवास तथा वैराग्यवृत्ति ।

पर्यूषण के अर्थ को प्रकट करने वाले आगमों में कितने ही शब्द उपलब्ध होते हैं, जैसे कि पज्जूसणा, पज्जोसवणा, पज्जुसणा, आदि। पर्यूषण का शाब्दिक अर्थ है, पूर्ण रूप से निवास करना, आत्मरमण करना और पज्जोसवणा का अर्थ है, कषायों की सर्वथा उपशान्ति । अनादिकालीन आत्मा में स्थित विकारों का सर्वथा नाश करना, तथा ऊर्ध्वमुखी वृत्ति द्वारा ऊर्ध्वगमन करना ही पज्जोसवणा का वास्तविक अर्थ है। जैन साधु और साध्वी, इन आठ दिनों में

---

[1] कल्पसूत्र, "तेणं कालेणं-समणे भगवं महावीरे वासाणं सवो सइराए मासे विइक्कन्ते वासावासं पज्जोसवेई ।"

[2] समवायांग सूत्र, "समणे भगवं महावीरे वासाण सवीसई राइमासे वइक्कन्ते सत्तरिएहिं राइदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेई ।"

वर्ष भर में लगे अतिचारों का आलोचन, केशलुंचन, पर्यूषणाकल्प वाचन, धर्मवृद्धि, भगवदाराधन अष्टमं तप, तथा साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण रूप छः उपक्रमों को अवश्य करते हैं। श्रावक और श्राविका इन दिनों में व्यावहारिक तथा जागतिक सम्बन्धों से अलग हट कर निरन्तर धर्म साधना तथा तपस्या में लीन रहते हैं, और संवत्सरी के दिन तो जैन समाज का कोई भी बच्चा तक यथा शक्य,तप, स्वाध्याय और कथा-श्रवण के बिना नहीं रहते। आठ दिन तक कितने ही जैन, भाद्र कृष्णा १२ से भाद्र शुक्ला पंचमी तक निर्जल और निराहार रहकर एक ही स्थान में ध्यान और स्वाध्याय में ही पर्यूषण पर्व मनाते हैं। सम्वत्सरी के सायं प्रतिक्रमण के अवसर पर प्रत्येक जैन को चौरासी लाख जीवायोनि से मन, वचन, काया पूर्वक क्षमायाचना करनी पड़ती है। इस दिन भी जो क्षमायाचना नहीं माँगता है, और न हीं क्षमा प्रदान करता है, वह जैन कहलाने का अधिकारी भी नहीं है। प्रेम मिलन, विश्व-मैत्री तथा विश्ववात्सल्य ही इस पर्व का मुख्य आधार है।

दशलक्षणपर्व—दिगम्बर सम्प्रदाय में पर्यूषण पर्व के स्थान पर दश लक्षण पर्व मनाया जाता है। भाद्र शुक्ला पंचमी से भाद्र शु० अनन्तचतुर्दशी तक इस पर्व की आराधना की जाती है। प्रतिदिन धर्म के दशलक्षणों का क्रमशः विवेचन होता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप दशधर्मों का व्याख्यान, अभ्यास तथा तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायों का क्रमशः स्वाध्याय किया जाता है। धर्म के विशाल वाङ्मय में धर्मके इन दशरूपों के लिए किसी भी धर्म में कोई भेद नहीं है। मनु जी के धर्म के दश लक्षण, पद्मपुराण के यति धर्म और जैनधर्म के दश यतिधर्म परस्पर में एक ही हैं। इन दिनों में जैन भाई यथाशक्य व्रत पौषध उपवास आदि तप क्रिया का भी अनुष्ठान करते हैं। इन पर्वों के दिनों में जैन समाज में एक उत्साह छाया रहता है, और जैन मन्दिर धर्मस्थान तथा स्वाध्याय भवन जनता से खचाखच भरे रहते हैं। अनंतचतुर्दशी के दिन किसी किसी स्थान पर विराट् जलूस भी निकाला जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का पर्यूषण पर्व और दिगम्बर सम्प्रदाय का दशलक्षण पर्व परिपूर्ण हिंसा के विरुद्ध जैन जाति का सामूहिक अभियान है। अतः प्राचीनकाल से जैन इन दिनों में अन्य प्रकार की हिंसा कसाई खाने आदि भी बंद करवा देते हैं। सम्राट् अकबर ने तो आचार्य हीरविजय सूरीश्वर के उपदेश से प्रभावित होकर अपने साम्राज्य में इन दिनों में हिंसा बन्द करवा दी थी। इसी प्रकार आज भी भारत के कितने ही प्रान्तों में सम्वत्सरी को हिंसा बन्द रहती है।

अष्टान्हिका पर्वः—तथा आयंबिल—ओली पर्वः—दिगम्बर सम्प्रदाय—

में कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिनों में सिद्ध भगवान् की आराधना तथा स्वाध्याय रूप धार्मिक क्रियाएँ उत्साह के साथ की जाती हैं।

श्वेताम्वर सम्प्रदाय में चैत्र और असौज में सप्तमी से पूनम तक ९ दिन आयंबिल तप की साधना की जाती है। हज़ारों जैन भाई और बहिन आयम्बिल तप करते हैं। आयम्बिल तप का अर्थ है अम्ल रस से रहित भोजन, जिसमें रस, गंध, स्वाद, घृत, दुग्ध, छाछ आदि किसी भी प्रकार से मिश्रित नहीं किया जाता है। जैन वर्ग की आस्वाद साधना का यह बहुत विचित्र और उपयोगी उपक्रम है।

श्रुत पंचमी—दिगम्वर सम्प्रदाय में इस पर्व को आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि के द्वारा निर्मित "पट् खण्डागम" नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की परिसमाप्ति के रूप में और स्वाध्याय प्रेरणा में इसे मनाया जाता है। ज्येष्ठ शु० पंचमी को उन्होंने यह ग्रन्थ संघ को समर्पित किया था, सांघिक सम्मान श्रुत ज्ञान के प्रति बढ़े, यही इसका उद्देश्य है।[1]

श्वेताम्वरों में श्रुत पञ्चमी कार्त्तिक शुक्ला पंचमी को मनाई जाती है। श्रुताराधना और श्रुत ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा तथा विनय प्रकट करना ही इसका उद्देश्य है।

महावीर जयन्ती—चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन श्रमण भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती जैन समाज में धूमधाम के साथ मनाई जाती है। इस वर्ष तो महावीर जयन्ती, अमेरिका, इंगलैण्ड आदि में भी मनाई जाने लगी है। इस दिन विशाल समारोह के साथ चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के जीवन, सिद्धान्त तथा दर्शन तथा धर्म के विषय में मनन किया जाता है। उत्सव, जलूस, भाषण आदि का रोचक रूप से कार्यक्रम रहता है। आजकल महावीर जयन्ती राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करती जा रही है।

इसी प्रकार अन्य २३ तीर्थंकरों की सामान्यतया जयन्तियाँ मनाई जाती हैं।

दीपावली—श्रावण पूर्णिमा, दशहरा, दीपावली तथा होली भारत के राष्ट्रीय पर्व हैं। चारों वर्णों के अनुसार प्रत्येक पर्व का एक-एक व्यावहारिक और धार्मिक सन्देश है। क्रमशः जैसे कि ज्ञान, क्षात्रत्व, लक्ष्मी और मनोरंजन तथा

---

[1] ज्येष्ठसित पक्ष पंचम्यां चातुर्वर्ण्यं संघ संभवतः ।
तत्पुस्तकोपकरणै र्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३
(इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)

शुद्धि और धार्मिक रूप से तपस्या, ब्रह्मचर्य, आत्मज्ञान (लक्ष्मी) तथा आत्मा शुद्धि दीपावली भी भारत का प्रसिद्ध तथा लोकव्यापी त्योहार है। तो भी दीपावली का ऐतिहासिक उद्‌गम रूप विवरण किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता है।

किन्तु श्वेताम्बर[1] आगमों और दिगम्बर पुराणों[2] में इस सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। आशय दोनों का एक है। श्रमण महावीर के निर्वाण के समय नव लिच्छवि और नव मल्लिराजाओं ने पौषध व्रत कर रखा था। कार्तिक अमावस्या का दिन था। रात्रि के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया। उस समय राजाओं ने आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य महावीर के अभाव में रत्नों के प्रकाश से उस स्थान को देदीप्यमान किया था। परम्परागत उसी प्रकार जनता दीप जलाकर उस परम ज्ञान की उपासना कर प्रेरणा प्राप्त करती है, इसी का नाम दीपावली है। यही कारण है कि दीपावली पर्व जैनों के लिए महत्त्वपूर्ण पर्व है।

सलूनो रक्षा बन्धन—ब्राह्मण लोगों के हाथों में राखियाँ बाँधते समय, इस पर्व का महत्त्व तथा इतिहास प्रतिपादक श्लोक पढ़ा करते हैं, जिसका आशय है कि "जिस राखी से दानवों का इन्द्र महाबली बलिराजा बाँधा गया उससे मैं तुम्हें बाँधता हूँ, अडिग और अडोल होकर मेरी रक्षा करो।"[3]

बलिराजा की कथा वामानवतार के प्रसंग में उद्धृत अवश्य हो गई है, किन्तु इससे रक्षा बंधन के महत्त्व का अनुभव नहीं मिलता है। जैन साहित्य में इसी पर्व के सम्बन्ध में कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैन साधुओं से घृणा और द्वेष रखने वाले बली को महाराज पद्‌म से उपकृत रूप से वरदान पूर्ति के निमित्त सात दिन का राज्य मिल गया था, अकस्मात् अकम्पनाचार्य अपने सात सौ शिष्यों सहित उधर आ निकले, बलि को बदला लेने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने मुनि संघ को एक बाड़े में घेर कर पुरुषमेध यज्ञ में बलि करने की ठानी।

एसे संकट काल में एक वैक्रिय लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार से प्रार्थना की गई कि आप ही इस मुनि संघ पर आये संकट को दूर कीजिए। तपस्या में लीन विष्णुकुमार मुनि, मुनि वर्ग की रक्षा निमित्त नगर में आये और अपने भाई पद्‌मराज

---

[1] कल्पसूत्र। [2] हरिवंश।

[3] येन बद्धो बली राजा, दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा चल॥

को समझाया कि भाई, इस कुरुवंश में तो साधुओं का आदर होता आया है, किन्तु इस प्रकार का पापकारी कुकृत्य नहीं हुआ।

पद्मराजा को दुःख तो बहुत था, किन्तु वह वचनबद्ध था, अतः उसने अपनी विवशता बताई। विष्णुकुमार मुनि बलि के पास पहुँचे और उससे मुनि संघ के लिए स्थान माँगा। बलि ने कहा कि अच्छा मैं ढाई कदम जगह देता हूँ, उसमें रह लो। इस पर विष्णुकुमार जी को रोष हुआ और अपनी शक्ति का चमत्कार उन्होंने वहाँ प्रगट किया, और एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, और तीसरा कदम बीच में लटकने लगा। यह देख कर पृथ्वीवासी जन अत्यन्त क्षुब्ध हो गए, बलि क्षमा माँगने लगा, राज्य उसने वापस कर दिया, और समचा संकट टल गया।

मुनिजनों पर संकट आया देख कर लोगों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया था। संकट टलने पर मुनि जब घर नहीं आये तो लोग भोजन कैसे करें। सात सौ मुनि जितने घर आ सकते थे, उतने घर गये और बाकी ने श्रमणों का स्मरण कर, प्रतीक बना कर भोजन किया, अतः उसी दिन से रक्षाबंधन के दिन दोनों ओर मनुष्य का चित्र बना कर राखी बाँधने की प्रथा चल पड़ी। इस प्रथा को आज भी उत्तर भारत में "सौन" कहते हैं, सौन शब्द "श्रमण" का ही अपभ्रंश है।[1]

* * *

---

[1] "जैन धर्म" कैलाशचन्द्र शास्त्री।

3620